श्रीपञ्चाक्षरी विद्या

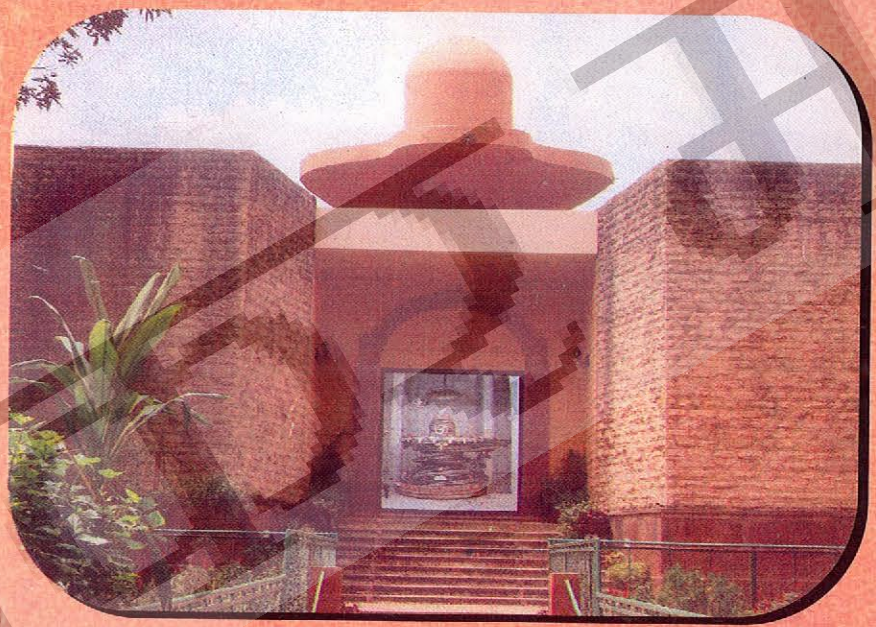

श्रीदक्षिणामूर्ति मठ, प्रकाशन

श्रीदक्षिणामूर्तिसंस्कृतग्रन्थमाला—५४

ॐ

श्रीपञ्चाक्षरी विद्या

श्रीपद्मपादाचार्यविरचितं

शिवपञ्चाक्षरीभाष्यम्

श्रीहरिनामदत्तकृत-सुबोधिनी-सहितम्

मन्त्रराजप्रकाश

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ
श्री १०८ स्वामी महेशानन्द गिरि जी
महाराज आचार्य महामण्डलेश्वर

श्रीदक्षिणामूर्ति मठ, प्रकाशन

वाराणसी

प्रकाशक :
श्रीदक्षिणामूर्ति मठ, प्रकाशन
डी ४९/९, मिश्र पोखरा,
वाराणसी-२२१०१०

© सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

प्रथम संस्करण : विक्रम संवत् २०६५
: शंकराब्द १२२०
: ईस्वी २००८

मूल्य : रुपये पच्चीस मात्र

मुद्रक
महिम पत्रन
सौंठ की मंडी
आगरा

प्रकाशकीय

शैवों का सर्वस्व पंचाक्षर मंत्र श्रौत एवं स्मार्त दोनों परम्पराओं में सम्मानप्राप्त है तथा सर्वाधिक श्रद्धालु इसके सहारे आत्मकल्याण करते रहे हैं । इसके अर्थ की गम्भीरता श्रीपद्मपादाचार्य ने ही सबके लिये सुलभ की । वह व्याख्या व्याकरण व मीमांसा की दृष्टि से अतिगम्भीर है । प्रायः चालीस वर्ष पूर्व परम पूज्य महाराजश्रीजी ने 'मन्त्रराजप्रकाश' के रूप में उस व्याख्या का संक्षिप्त हिंदी अनुवाद प्रकाशित किया था जिसकी अनेक आवृत्तियाँ अब तक प्रकट हो चुकी हैं । कालान्तर में, 'चन्द्रप्रभाकार्यालय काशी' से प्रकाशित एक संस्कृत व्याख्या उपलब्ध हुई जिसका महत्त्व देखते हुए उसका भी हिन्दी अनुवाद कराकर इस संस्करण में जोड़ा गया है । इस टीका की विशेषता है कि सम्पूर्ण ब्रह्मसूत्रों का अर्थ संक्षेप में इसमें प्रदर्शित है । हिन्दी में प्रस्थानत्रयी के तात्पर्य निर्णय का भी प्रदर्शन किया गया है । इस प्रकार वेदान्त-श्रवण के इच्छुकों के लिये एवं मंत्रराजभाष्य का समग्र भाव समझना चाहने वालों के लिये यह ग्रन्थ सुलभ उपाय हो गया है ।

विषय-सूची

	पृष्ठांक
सुबोधिनी का उपक्रम	१
मन्त्रराजप्रकाश का प्रारंभ	७
मन्त्रराजप्रकाश का : प्रथम अर्थ	८
: द्वितीय अर्थ	२०
: तृतीय अर्थ	२३
: चतुर्थ अर्थ	३०
: पंचम अर्थ	५४
: छठा अर्थ	५६
: सातवाँ अर्थ	५९
: आठवाँ अर्थ	६३
: नौवाँ अर्थ	६६
सब अर्थों का संक्षिप्त चित्र	७०
मन्त्रराज-व्याख्या का समापन	७१
सुबोधिनी में शारीरकार्थ-प्रदर्शन	७४
ब्रह्मसूत्रों का तात्पर्यनिर्णय	७४
अधिकरणों का पंचाक्षरव्याख्या में अन्तर्भाव	७७
उपनिषदों का तात्पर्यनिर्णय	८०
गीता का तात्पर्यनिर्णय	८९
ब्रह्मसूत्र—द्वितीय अध्याय का संग्रह	१०१
ब्रह्मसूत्र—तृतीय अध्याय का संग्रह	११०
ब्रह्मसूत्र—चौथे अध्याय का संग्रह	१२६
सुबोधिनी का समापन	१३६

ॐ

श्रीपञ्चाक्षरी विद्या

श्रीभगवत्पद्मपादविरचितम्

शिवपञ्चाक्षरीभाष्यम्

श्रीहरिनामदत्तकृत-

सुबोधिनी-

व्याख्यासंवलितम्

श्रीमन्महेशानन्दगिरिपूज्यपाद रचित

पञ्चाक्षरीभाष्यानुवाद (मन्त्रराजप्रकाश)

सहित

सुबोधिनी

नत्वा साम्बं शिवं प्रीत्या।
विद्वदानन्ददायिनीम् ॥
शिवपञ्चाक्षरीभाष्य-
व्याख्यां कुर्वे सुबोधिनीम् ॥

सुबोधिनी का हिन्दी अनुवाद

श्रीदक्षिणास्यभगवत्पद्मपादगुरूंस्तथा।

नत्वा मज्जामि सुखतः शिवचिन्तासुधानिधौ ॥

वैदिक वाङ्मय विरूपाक्ष का विशेष स्तावक है। कार्य और ज्ञेय का प्रतिपादन हितबोधक के लिए अनिवार्य है। शिव ही एकमात्र ज्ञेय हैं और उनकी भक्ति ही एकमात्र कार्य, यही शिष्टों का सिद्धान्त है। भक्ति

के प्रथम सोपान में शैव धर्मों के आचरण का संकल्प आता है। शिवरहस्य में शैव धर्म प्रदर्शित है। शिव-पूजा, भस्मधारण, रुद्राक्षधारण, लिंगार्चन, रुद्रपाठ, पंचाक्षरजप, शिवभक्तसेवा, सोमवार और शिवरात्रि के व्रत—इनका सदा अनुष्ठान ही शैवधर्माचरण है। नियमतः इनका पालन मोक्ष का असन्दिग्ध उपाय है। इनमें पंचाक्षरजप भी परिगणित है। वेदमध्यस्थ 'नमः शिवाय' मन्त्र ही पंचाक्षर मंत्र है। अव्यक्त ध्वनिपूर्वक पुनः पुनः उच्चारण जप कहा जाता है। जपक्रिया स्वयं ही महाफला है। भगवान् मनु ने ब्राह्मण के लिये जप की विशेषता यहाँ तक बता दी है कि वह अन्य कोई सत्कर्म न कर केवल जप करता रहे तो भी सद्गति पा जाता है। भगवान् ने भी जप को यज्ञों में श्रेष्ठ सूचित किया है। जप करते हुए मंत्रार्थ का स्फुरण हो तो फल और विशेष होता है। विद्या से क्रिया वीर्यवत्तर हो जाती है ऐसा उपनिषदों का मानना है। अतः पंचाक्षरी के अर्थ का प्रतिपादन आचार्यों ने किया है। यद्यपि भगवान् शंकर को नमस्कार है—इतना ही सरलार्थ इस मंत्र का स्पष्ट है, तथापि मंत्र के माहात्म्य की अन्यथानुपपत्ति से इसमें अनेक गूढ रहस्यों का निहित होना ही स्वीकार्य है। अतः श्रीमान् पद्मपादाचार्य ने इस मंत्र के अनेक विकल्पार्थ करते हुए श्लोकबद्ध व्याख्यान किया है। उसकी दुर्बोधता देखकर जगाधरी निवासी श्री हरिधन मिश्र के पुत्र श्री हरिनामदत्त नामक एक सारस्वत विद्वान् ने उसकी टीका रची। इस टीका की अन्य विशेषताओं में अन्यतम है ब्रह्मसूत्रों के प्रमुख विषय को व्याख्या में घटा देना। सौ वर्षों से भी कम पुराना यह ग्रंथ अर्थगौरव से आदरणीय है। टीकाकार ग्रंथादि में मंगल करते हैं—

माता समेत शिव को प्रेम से नमस्कार कर शिवपंचाक्षरीभाष्य की सुबोधिनी नामक व्याख्या रच रहा हूँ जो विद्वानों को आनन्द देने वाली है।

टीकाकार ने साम्बसदाशिवरूप विषय, आनन्दरूप फल, विद्वच्छब्दित उपासक अधिकारी और प्रीतिद्वारक प्रापकत्व सम्बन्ध सूचित किये हैं। ग्रंथ

शिवप्रेम उत्पन्न कराकर आनन्द की प्राप्ति कराने में सक्षम और उसी से सफल है। विद्वानों को आनंद देने वाली कहकर यह भी ध्वनित है कि मूर्खों को मन्त्रराज में ये गंभीर अर्थ हैं यही नहीं जँचेगा और ये अर्थ समझ भी आयेंगे नहीं। अतः अनधिकारी होने से वे इसे न पढ़ें तो ही अच्छा है क्योंकि पढ़ने पर उन्हें दुःख ही होगा। इससे इंगित किया कि सभी ग्रंथ अनधिकारी को विपरीत फल देते हैं। अतः पढ़ने से पूर्व अपने अधिकार का निर्णय कर तदनुसार ही अध्येता को प्रवृत्ति करनी उचित है। अन्यथा वाग्जाल में फँसकर अपना व सबका अकल्याण ही होगा।

श्रीमद्भगवान् पद्मपादाचार्यो भाष्यकाराणां मुख्यः शिष्यः सकलमुमुक्षुजनहितार्थाय शारीरकसूत्रभाष्यविचारासमर्थानां च श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकश्रीमद्भगवत्पाद- श्रीशङ्कराचार्य-प्रणीतशारीरकसूत्रभाष्यसंक्षिप्ततात्पर्यांशं श्रीमत्पञ्चाक्षरी—'नमः शिवाये'-तिमन्त्रराजभाष्यरचनया दिदर्शयिषुः तस्य त्रयोविंशतिश्लोकैः निबन्धं चिकीर्षुः तन्निबन्धपरिसमाप्तिप्रचयगमनाभ्याम् ईश्वरार्चनविधानान्तर्गतं परमानन्दशिवरूपवस्तुनिर्देशात्मकं मङ्गलमाचरन् आवृत्त्यादिना व्याख्यानान्तरैः विषयप्रयोजने सूचयति—त्यागो हीति।

प्रस्थानत्रयीभाष्य के रचयिता औपनिषद सम्प्रदाय के सर्वमान्य आचार्य भगवान् शंकरभगवत्पाद के मुख्य शिष्य थे पद्मपाद। इन्हें सनन्दन नाम से भी दिग्विजयों में कहा गया है। कालक्रम से ये प्रथम थे इतना ही नहीं गुरुभक्ति में भी ये ही प्रथम थे यह शंकराचार्यलीला के अनेक प्रसंगों में व्यक्त है। अतएव पद्मपाद यह नाम भी इन्हें शोभित करने लगा। गुरु के बुलाने पर नदी-पार से ये तुरन्त नदी पर ही दौड़ पड़े थे। इनके प्रेम से गद्गद् हो भगवान् ने नदी पर पैर जमाने के लिये पद्मों को तुरन्त उत्पन्न कर दिया जिन पर अपने पाद रखते हुए ये गुरु की सेवा में तुरंत उपस्थित हुए। अतः ये पद्मपाद नाम वाले हुए। इनकी विद्वत्ता की प्रौढता पञ्चपादिका

नामक चतुःसूत्रीव्याख्या के अवलोकन से अनायास हो जाती है जिसमें प्रतिपद इतना गांभीर्य है कि प्रकाशात्मश्रीचरण, अखण्डानन्दमुनि, चित्सुखाचार्य, नृसिंहाश्रमस्वामी, विद्यारण्यस्वामी आदि बहुतेरे विद्वद्धौरेयों ने उसका अथक मंथन कर वेदान्त के दुर्बोध तथ्यों का स्पष्टीकरण पाया है और आज भी साम्प्रदायिक अध्येता उसे अपना सर्वस्व मानना चाहते हैं। अतः उन्हें भगवान् कहना समुचित है। वैसे वे विष्णु के अवतार माने जाते हैं। ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य—इनकी पूर्णता जहाँ विराजमान हो वही भगवान् कहा जाता है। क्योंकि साक्षात् लक्ष्मी विष्णु की पत्नी हैं अतः पद्मपाद को केवल भगवान् न कह श्रीमद्भगवान् कहा। इससे उनका अवतारत्व स्पष्ट कर दिया । वैसे मोक्षलक्ष्मी के उपभोक्ता जीवन्मुक्त होने से भी वे श्रीमान् थे। इससे उनकी आप्तता व उनकी प्रवृत्ति की कारुणिकता बताकर श्रद्धेयातिशयता प्रकट की। शास्त्र के अर्थ का संचय कर प्रकट करने से, स्वयं तदनुसार सिद्धि पाने से व अपने शिष्यों को भी उसका अनुसरण करा कर सिद्ध बनाने से वे आचार्यपद से अभिहित हैं। जो उपदेश पाये वही शिष्य है। उसकी मुख्यता यही है कि उस उपदेश को फलपर्यन्त आत्मसात् करे। ऐसा न करने वाला तो शिष्यशब्द का गौण ही अर्थ है। शिष्य तो सचमुच गुरुरूप ही है । अतः पद्मपादाचार्य भाष्यकारों के मुख्य शिष्य थे—कहने का अर्थ ही है कि वे स्वयं तदात्मक थे। इससे आचार्य की प्रामाणिकता ही नहीं कही उनके ग्रंथ को भाष्यसम ही घोषित कर दिया।

उन आचार्य पद्मपाद ने 'नमः शिवाय' इस पंचाक्षरी नामक मन्त्रराज का भाष्य लिखा है । मूलार्थ का यथाशब्द वर्णन कर वर्णित अर्थ को समझाने वाला व्याख्यानग्रन्थ भाष्य शब्द से व्यवहृत होता है। प्रकृत भाष्य तेइस श्लोकों में निबद्ध है। इसे रचने में हेतु है सभी मुमुक्षु लोगों का हित। अर्थविचारसहित जप करने से ही यह हित प्राप्त होगा । यद्यपि प्रसिद्ध है कि मोक्षेच्छुक के लिये वेदान्तश्रवणादि हितकर है तथापि मन्दप्रज्ञादिवशात्

जो विवेकादिसंपन्न अधिकारी शास्त्र में प्रवेश न कर सकें उनके लिये यह निबंध पर्याप्त है । यद्यपि साधनचतुष्टय इस ग्रंथ के अधिकारी के लिये भी आवश्यक है तथापि ऊहापोहकौशल के बिना भी इसे समझा जा सकता है, शास्त्र को नहीं। किंच श्रुतिपूर्वक अनधिकार वालों के लिये भी यह ग्रंथ अध्यात्मविद्याप्राप्ति के लिये राजमार्ग है। ग्रंथाक्षरों के लिये अधिकारप्रतिबंध होने पर भी ग्रंथार्थ के लिये विवेकादियुक्त सभी प्राणी अधिकारी हैं। अतः वेदान्तविद्या सर्वसुलभ है। वेदान्तशास्त्र शारीरकसूत्र कहा जाता है। शरीर कुत्सित होने से शरीरक कहा जाता है व उसमें स्थित प्रत्यगात्मा शारीरक है। अथवा त्रिविध शरीर ही शारीर है व उनसे उपहित होने वाला त्वम्पदार्थ शारीरक है। उसके शुद्धरूप की सूचना देने वाला ग्रंथ शारीरक सूत्र कहा जाये यह संगत है। त्वमर्थ का पूर्ण शुद्ध रूप ही तदर्थ से अभिन्न है। तदर्थ-अभेद स्फुट हुए बिना त्वमर्थ की अशुद्धि निवृत्त नहीं होती। उस शारीरकसूत्र की व्याख्या शंकराचार्य ने भाष्य द्वारा की। उसका विचार सद्योमोक्ष का अचूक उपाय है। केवल अध्ययन नहीं, विचार की आवश्यकता है। उसमें वही समर्थ है जिसमें साधनसम्पत्ति से अतिरिक्त नानाशास्त्रीय विश्लेषण पद्धतियों के प्रौढ संस्कार हैं। यद्यपि प्रसन्नगंभीर होने से न्यूनमति भी भाष्य पढ़ने का सुख ले सकता है तथापि विचार कर नहीं सकता । अतः ऐसे अधिकारियों पर कृपा कर पद्मपादाचार्य ने यह पंचाक्षरीभाष्य बनाया। क्योंकि मोक्ष का अकेला उपाय है वेदान्तज्ञान, इसलिये इस भाष्य में भी बताया वही गया है जो शारीरक सूत्रभाष्य में आचार्यों ने समझाया है। किंतु उस भाष्य के संक्षिप्त तात्पर्य को ही यहाँ कहा है। संक्षिप्त इसलिये कि मतान्तरपरीक्षा, श्रौतप्रसंगों का अर्थनिर्धारण, प्रक्रियाओं का विश्लेषण, मोक्ष के प्रकार आदि विषय यहाँ छोड़ दिये गये हैं। तात्पर्य इसलिये कि जो बात स्पष्ट करने की तत्परता सूत्रभाष्य में है वही बात तत्परतापूर्वक इसमें व्यक्त की है। तात्पर्य का भी अंश इस ग्रंथ में बताया

है अर्थात् सूत्रभाष्य की अत्यधिक महत्ता में कोई संशय नहीं। संक्षेप में तात्पर्यांश स्फुट करने के लिये आचार्य का यह प्रयास है।

यह निबंध निर्विघ्न पूरा होवे तथा इसे लोग समझें व तदनुसार साधन करें इसके लिये आचार्य ने प्रथम श्लोक में मंगल किया है। ग्रंथ-परिसमाप्ति में तो लेखकमति, यत्न आदि कारण बनते हैं पर आ सकने वाले विघ्नों का हटना मंगल से हो जाता है। ऐसे ही ग्रंथ का प्रचयगमनादि निर्भर करता है उसकी उपयोगितादि पर, किन्तु उसमें भी विघ्न संभावित हैं ही जिन्हें मंगल दूर कर देता है। विघ्न हों ही नहीं तो मंगल व्यर्थ है—ऐसा नहीं कह सकते । प्रथमतः तो यह बात ही गलत है कि कल्याणकार्य में विघ्न न हो। फिर विघ्नभय तो बना ही रहता है जिसे मंगल दूर करेगा। यद्यपि साक्षाद् विधि नहीं मिलती तथापि शिष्टपरंपरा से कार्यारंभ आदि में मंगल का आचरण शास्त्रीय कृत्य है। उसे ग्रंथ में सूचित करने से अगली पीढ़ियाँ भी सीख जाती हैं कि मंगल करना चाहिये। नमन, आशीर्वाद और वस्तुनिर्देश—ये तीन मंगलाचरण के प्रसिद्ध प्रकार हैं। यद्यपि लेखिष्यमाण ग्रन्थ में वर्ण्य वस्तु की सूचना वस्तुनिर्देश कह दी जाती है तथापि क्योंकि जो वास्तविक हो वही वस्तु है इसलिये परमात्मरूप वस्तु का कथन ही वस्तुनिर्देशरूप मंगल समुचित है। प्रकृत में परम अर्थात् निरपेक्ष निरवधि आनन्दरूप शिव का निर्देश कर मंगल किया गया है। ग्रंथ प्रतिपाद्य भी वही वस्तु है। भगवान् की अर्चना के प्रकार में उनका स्मरण भी आ जाता है अतः यह वस्तुस्मरणरूप शिवार्चन भी निष्पन्न हो गया है। इसी पद्य के शब्दों की आवृत्ति आदि से इसका अन्य भी व्याख्यान संभव है जिससे ग्रन्थगत विषय और उसका प्रयोजन सूचित होंगे। यह सुबोधिनी में स्पष्ट किया जायेगा। पंचाक्षरमंत्र की नौ व्याख्यायें पद्मपादाचार्य ने व्यक्त की हैं। उनमें यह प्रथम व्याख्या है जो 'त्यागो हि' आदि शब्दों से प्रारंभ होती है।

मन्त्रराजप्रकाश

नत्वा पञ्चाक्षरीं विद्यां निर्मलां मुक्तिदां शिवाम्।
पद्मपादस्य व्याख्यानं कथ्यते लोकभाषया ॥

समग्र विश्व वैदिक धर्म से ही अपने आपको सुखी व समृद्ध बना सकता है। भगवान् शिव एवं भगवती पार्वती किसी देश-काल में प्रकट नहीं होते अतः ब्रह्माण्ड भर उनमें तादात्म्यानुभव कर पाता है। 'रुद्रो नर उमा नारी' आदि शास्त्र इसमें प्रमाण है। सारे भूमण्डल में शिवलिंगपूजा के अवशेष मिले हैं। भारत में मोहनजोदड़ो में जो प्राचीनतम पदार्थ मिले हैं उनमें शिव की मूर्ति पद्मासन में, पशुपतिरूप तथा पार्वती की मूर्ति उत्थितासन में, मातृरूप में, योनिरूप में व त्रिकोणरूप में मिली हैं। वैदिक यज्ञ में वेदि ही योनि है तथा अग्नि ही ऊर्ध्वलिंग है। ज्ञान में मन ही त्रिशक्तिरूप होने से योनि है तथा ब्रह्माभास ही ज्ञापक होने से लिंग है। भक्ति में जीव ही योनि है तथा शिव ही उसमें स्थित लिंग है। इसी प्रकार पृथ्वी ही योनि है तथा सूर्य ही लिंग है। न जाने क्यों अनेक भारतीय भाषाओं में, विशेषतः हिन्दी में, ये दोनों शब्द केवल दैहिक अंगविशेषों में रूढ हो गये हैं। इस रूढि से हमारे शास्त्रों तथा पूज्य पदार्थों के घृणित अर्थ अर्धनास्तिक वैष्णवों ने किये एवं आँग्लों ने उन्हीं अर्थों को ईसायियत के कारण परिवृद्ध व प्रसारित किया। आशा है संस्कृतज्ञ हिंदी भाषा वाले इस भ्रम को दूर करेंगे।

आचार्य शंकर ने वैदिक धर्म के उद्धार में जिन अस्त्रों की सहायता ली उनमें लोकसामान्य में सरलता से सिद्धान्त और क्रिया का प्रचार भी प्रधान था। दार्शनिकों के लिये उपनिषदों में से जैसे महावाक्य का उद्धार उन्होंने किया वैसे ही संहिता में से सारभूत पंचाक्षरी मन्त्रराज का उपदेश साधकों को उन्होंने दिया। मंत्रराज में प्राणिमात्र का अधिकार सूतसंहिता आदि में स्पष्ट विहित है। यह प्राणिमात्र के उद्धार का सर्वोत्तम सरलतम मार्ग है। इसमें दीक्षा बिना भी जप का अधिकार इसे सहज सिद्ध करता

है। इसके भाव को प्रकट करने के लिये शंकरभगवत्पाद के पट्टशिष्य, ब्रह्मसूत्रभाष्य के प्रामाणिक व्याख्याता भगवान् पद्मपाद ने जिस ग्रंथ की रचना की उसके अध्ययन से वेदान्त का सारा रहस्य तथा भक्ति व कर्म का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। अतः इसका हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया जा रहा है।

शिवपञ्चाक्षरीभाष्य

त्यागो हि नमसो वाच्य आनन्दः प्रकृतेस्तथा।
फलं प्रत्ययवाच्यं स्यात् त्याज्यं पत्रफलादिकम् ॥ १ ॥
त्यजामीदमिदं सर्वं चतुर्णामिह सिद्धये ॥ १ १/२ ॥

मन्त्रराजप्रकाश

'नमः' शब्द का अर्थ वेदों में त्याग है। 'शिवाय' शब्द के प्रकृति अर्थात् शिव का अर्थ आनन्द; एवं प्रत्यय 'आय' का अर्थ फल है। जैसे साधारण पूजा में पत्ते फूल आदि चढ़ाते हैं ॥ १ ॥ वैसे ही मैं इस सारे इदंरूप से प्रतीयमान अर्थात् दृश्य जगत् का त्याग आनन्द की प्राप्ति के लिये करता हूँ। सालोक्य, सामीप्य, सायुज्य और सार्ष्टि रूप से चारों प्रकार के आनन्द की सिद्धि हो, यह भाव है।

सुबोधिनी

प्रथमं व्याख्यानम्

त्यागो नमःशब्दस्य वाच्यार्थः। स च कर्मकाण्डशास्त्रे प्रसिद्धः, 'एतद्वोऽन्नं सोपकरणं नमः' ( ) इत्यादौ, त्यजामीत्यर्थः। शिवायेत्यत्र प्रकृतेः शिवशब्दस्य वाच्य आनन्दः, आनन्दोपलक्षितं वक्ष्यमाणमर्थादिचतुष्टयं च; शिवायेत्यत्रैव प्रत्ययस्य चतुर्थीविभक्तेः वाच्यार्थः फलं मनोभिलषितार्थसिद्धिरित्यर्थः। अर्थाक्षिप्तं त्यक्तव्यार्थमाह—त्याज्यं पत्रफला-दिकमिति ॥ १ ॥ पदार्थमुक्त्वा

वाक्यार्थमाह—त्यजामीदमिति। इदं गन्धपुष्पादिकं गृहीत्वाऽनादिगृहीतं च [बुद्ध्याद्यनात्मप्रपञ्चम् अर्थादिचतुर्णां सिद्धये यथायोगं गन्धादिकं] बुद्ध्यादिकं च त्यजामि ।

सुबोधिनी अनुवाद

नमः—शब्द का शक्तिलभ्य अर्थ है त्याग। नमः का यह अर्थ कर्मकाण्ड वाक्यों में प्रसिद्ध है। 'उपकरण समेत यह आपका अन्न छोड़ता हूँ' आदि वाक्यों में नमः शब्द का छोड़ना अर्थ में प्रयोग है। 'शिवाय' शब्द में प्रकृतिरूप शिवशब्द का वाच्य अर्थात् शक्तिलभ्य अर्थ है आनन्द । आगे बताये जाने वाले अर्थ आदि चार भी आनन्द से समझ लेने चाहिये । अर्थादि से बाकी पुरुषार्थ विवक्षित हैं। 'शिवाय' शब्द में ही चतुर्थी विभक्तिरूप प्रत्यय का वाच्य अर्थ है फल। मन में इच्छित अर्थ की सिद्धि फलशब्द से कही जा रही है । अतः दुःखरूप फल यहाँ विवक्षित नहीं। त्याग अर्थात् छोड़ता हूँ कहते ही शंका होती है क्या ? अतः कहा—पत्ते फल आदि त्याग के योग्य हैं ॥ १ ॥ इस प्रकार मंत्र के शब्दों का अर्थ कहकर समूचे मंत्रवाक्य का अभिप्राय बताया—'यह' 'यह' जो कुछ है उस सबको चारों की सिद्धि के लिये छोड़ता हूँ। 'यह' से सुगंधिपुष्पादि जिन्हें यत्नपूर्वक ग्रहण कर छोड़ा जाता है वे और जो सदा से गृहीत हैं ऐसे अज्ञान बुद्धि आदि सब अनात्म पदार्थ समझने चाहिये। अतः यह-शब्द दो बार आया है। सुबोधिनी में कुण्डलित पाठ ही मुद्रित है। कोष्ठक बहिर्भूत 'बुद्ध्यादिकम्' शब्द न हो तो कोष्ठक की आवश्यकता न रहे।

सुबोधिनी

अथ 'त्यजामीदमिदं सर्वं चतुर्णामिह सिद्धये' इति पदानामावृत्त्यादिना यथाऽभिलषितार्थकल्पनया मङ्गल-विषय-प्रयोजन-प्रतिपादकानि वर्णकानि वर्ण्यन्ते। तत्र मङ्गलविषयकमाह—त्यजामीदमिदं सर्वमिति। इदं सर्वं यथोपलब्धं

गन्धपुष्पपत्रफलनैवेद्योपहारादिकं शिवाय त्यजामि समर्पयामीत्यर्थः। कस्मै प्रयोजनाय ? शिवाय शिवशब्दोपलक्षितानां चतुर्णाम् अर्थ-धर्म-काम-मोक्षाणाम् इह एव अस्मिन् शरीरे विद्यमान एव सिद्धये प्राप्तय इत्यर्थः। इति प्रथमवर्णकम्।

अब पदों की आवृत्ति आदि से अर्थकल्पना द्वारा ग्रंथकार को अभीष्ट मंगल, विषय और प्रयोजन का प्रतिपादन चार वर्णकों में स्पष्ट किया जाता है। अधिकारी तो दूसरे-तीसरे व्याख्यान में स्पष्ट होगा। पहले मंगलविषयक वर्णक बताते हैं—जैसा व जिस प्रकार मुझे उपलब्ध हुआ वह गंधादि मैं शिव को समर्पित करता हूँ। शिव अर्थात् अर्थ, धर्म, काम व मोक्ष की इस शरीर में रहते हुए ही प्राप्ति समर्पण का प्रयोजन है। यहाँ शिवोद्देश्यक त्याग तथा शिवरूप प्रयोजन दोनों मंगल हैं। 'यथोपलब्धम्' से सूचित किया कि गन्धादि पर मेरा स्वत्व है या नहीं इस पचड़े में पड़ता नहीं क्योंकि वह गुत्थी कभी सुलझनी नहीं । जिसका स्वत्व प्रतीत होता है उसका विश्लेषण करें तो वही अलीक हो जाता है और स्वत्व का निर्वचन करें तो प्रथमतः निर्वचन ही मुश्किल और कथंचित् हो जाये तो वह स्वत्व इन पदार्थों पर हमारा पूर्णतः है यह निर्धारण और भी मुश्किल हो जाता है । ऐसे ही त्याग के विषय में समझ लेना चाहिये। अधिष्ठानादि पाँच त्याग करने वाले हैं, मैं अकेला नहीं। फिर भी मुझे लगता है मैंने त्याग किया अतः कह दिया 'त्यजामि' । गन्धादि से सारी पूजनसामग्री कह दी। पुरुषार्थों का क्रम यह बताने के लिये है कि अर्थ से धर्म व उससे काम की प्राप्ति होती है, मोक्ष तो परम पुरुषार्थ है ही। वस्तुतः काम व मोक्ष ही पुरुषार्थ हैं। अर्थ व धर्म तो क्रमशः इनके साधन होने से पुरुषार्थ कहे जाते हैं। पुमर्थलाभ इसी जन्म में प्राप्तव्य है । मोक्ष को यहीं पा लेना चाहिये यह उपनिषदों का सिद्धान्त व आचार्यों का आग्रह है। जीवन्मुक्ति के पक्ष में सभी आचार्य उपपत्तियाँ देते हुए उसकी अनिवार्यता सिद्ध करते हैं। क्योंकि बंधन इस

जन्म में है इसलिये उससे छूटना भी यहीं जरूरी है, अन्यथा वह छूटना इच्छित ही नहीं हो पायेगा। प्राप्ति के लिये आचार्य ने सिद्धि शब्द का प्रयोग किया है। अन्य पुरुषार्थ तो प्राप्तिरूप हैं पर मोक्ष केवल सिद्धिमात्र है। अवगति ही सिद्धिशब्द का अवयवलब्ध अर्थ यहाँ विवक्षित है। इस प्रकार प्रथम व्याख्या में यह मंगल-बोधक प्रथम वर्णक है।

द्वितीयवर्णकेन विषयं सूचयति—त्यजामीदमिति। इदमिदं सर्वम् इदन्तया गृहीतमध्यस्तमनात्मप्रपञ्चं गेहदेहेन्द्रियान्तःकरणादिकं सर्वं त्यजामि अनात्मतया उत्सृजामि। अत्र इदन्ताविषयस्य अन्तःकरणादेः अध्यस्तोपाधेः त्यागाद् भेदकाभावात् फलत्वेन प्रत्यगभिन्नाद्वितीयब्रह्मणः प्रतिपाद्यत्वाज्जीवब्रह्मणोरेकत्वलक्षणो विषयः सूचितो भवति।

द्वितीय वर्णक से विषय की सूचना दे रहे हैं। 'यह' इस तरह जिस किसी का अनुभव होता है वह अनात्मा है, अध्यस्त है। इसमें घर, पत्नी आदि से लेकर इन्द्रिय, अन्तःकरण व अज्ञान पर्यन्त सभी का संग्रह हो जाता है कारण कि ये सभी 'यह' इस तरह 'मैं' से अलग प्रतीत होते ही हैं। उन सबको मैं छोड़ता हूँ अर्थात् वे मैं नहीं हूँ इस निश्चय से उनसे तादात्म्य हटाता हूँ। इस व्याख्या में विषय कैसे कहा गया है—यह समझाते हैं : इदम् कहते हैं जो अपने से भिन्न हो व सामने ज्ञेयतया उपस्थित हो। शास्त्रीय भाषा में फलव्याप्तियोग्यता इदन्ता है। सारा अनात्म प्रपंच इदम् शब्द का विषय है। उसमें रहने वाली विशेषता हुई इदन्ता या इदन्त्व। जिसमें इदन्ता होगी वही 'इदम्' इस तरह व्यवहार के योग्य होगा। जब कहते हैं इदन्ताविषय तब अर्थ होता है इदम्बुद्धि का विषय जो इदन्ता का आश्रय। ऐसे जो अंतःकरणादि हैं वे ही स्वसंसर्गी में मिथ्या विशेष के व्यवहार में हेतु बनने से आत्मा की उपाधियाँ हैं। ये उपाधियाँ स्वरूप से स्वतः भी आत्मा में अध्यस्त हैं, इनका और आत्मा का आपसी सम्बन्ध भी अध्यस्त है और इनसे आत्मा में जो भिन्नता आदि विशेष अनुभव में

आते हैं वे भी अध्यस्त हैं। जब इन उपाधियों का बाधात्मक त्याग हो गया तब आत्मा को भिन्न करने वाला कुछ रहा नहीं तो अखण्ड शिव ही अवशेष है जो आत्मा है अतः प्रत्यग्रूप है। उपाधिबाध का यही फल है। इस प्रकार समस्त उपाधियों की आत्यन्तिक निवृत्ति से जीव-ब्रह्म की एकता प्रतिपादित हो जाती है और यही शारीरकशास्त्र का विषय है। याद इतना रखना चाहिये कि उपाधिबाध में केवल जीव की उपाधियों का ही बाध नहीं करना है, ईश्वर की उपाधि का भी बाध करना है। एवं च सब स्पष्ट हो जाता है। इस प्रकार यह विषयबोधक द्वितीय वर्णक हुआ।

तृतीयवर्णकेन प्रयोजनमाह—त्यजामीदमिदं सर्वं चतुर्णामिह सिद्धये। तत्र अवान्तरप्रयोजनम् अर्थ-धर्म-कामानाम् इह इत्युपलक्षणमैहिकामुष्मिकाणां सिद्धये। स्वर्गीयशरीरभोग्यानां कथमिह सिद्धिरिति नाशङ्कनीयम्; तत्कारणीभूतापूर्वस्य इह सिद्ध्या तेषामपीह सिद्धेः। इदमिदं पत्रपुष्पफलादिकं यथोपलब्धं त्यजामि शिवाय समर्पयामीत्यर्थः। तत ऐहिकार्थं धनं सुवर्णरजतादिकं लब्ध्वा ऐहिककामं स्त्रक्चन्दनवनितापुत्रगृहादिकं साधयिष्यामि, पारलौकिकं चार्थं धर्म कर्मोपासनादिना संपाद्य पारलौकिकं कामं स्वर्लोकादिब्रह्मविष्णुरुद्र-शक्तिलोकान्तं साधयिष्यामीति भावः।

तीसरे वर्णक द्वारा प्रयोजन बता रहे हैं। परम और अवान्तर भेद से प्रयोजन दो प्रकार का होता है। मुख्य और परम का एक ही अर्थ है। अन्य सबको जिसके लिये छोड़ा जा सके वह मुख्य होता है। उस प्रयोजन को अगले वर्णक में कहेंगे। मुख्य का विरोध न करते हुए किंतु उससे विलक्षण जो होता है वह अवान्तर कहा जाता है। अन्तिम स्थिति में यद्यपि मुख्य का सभी से विरोध है तथापि प्रारंभिक स्थितियों में नहीं, एतावता अवान्तरत्व की संगति हो जाती है। प्रकृत में अर्थ, धर्म और काम अवान्तर प्रयोजन हैं। यह जो कहा कि यहीं—इसी शरीर में रहते हुए—प्राप्ति के

लिये त्यागता हूँ, वह पारलौकिक फलों के भी संग्रह के अभिप्राय से है। यद्यपि पारलौकिक पदार्थ इस लोक में सिद्ध हो नहीं सकते तथापि उन्हें प्राप्त कराने वाला पुण्य तो यहीं मिलेगा। अतः क्योंकि वह पुण्य एकत्र हो जाने पर परलोक में फललाभ निश्चित है इसलिये कह सकते हैं कि पारलौकिक फल भी यहीं मानो मिल गये। अथवा 'इह' यहीं से समूचा ब्रह्माण्ड समझें तो कोई शंका का स्थान नहीं रहेगा। पत्र पुष्पादि के त्याग से इस लोक के सोना-चाँदी आदि धन प्राप्त कर पत्नी आदि कामों की सिद्धि होगी और परलोक में काम आने वाले धर्मरूप धन को कर्म व उपासना से अर्जित कर परलोक के कामों की सिद्धि होगी। दोनों धन मिलेंगे इस शिवोद्देश्यक त्याग से, यह रहस्य है। परलोक से स्वर्ग से लेकर शक्तिलोक या ब्रह्मलोकपर्यन्त सभी समझ लेने चाहिये। जब पुरुषार्थरूप से 'काम' कहे जाते हैं तो अभिप्राय है काम्य पदार्थों के उपभोग से। पदार्थमात्र तो अर्थ-शब्द से कह दिये जाते हैं। उनका भोग ही कामरूप पुरुषार्थ है। पत्नी आदि कामों की सिद्धि का अर्थ हुआ उनका भोग। ऐसे ही पारलौकिक काम भी वहाँ के पदार्थों के भोग का वाचक है। कामसिद्धि के लिये अर्थ की अपेक्षा अवश्य है यह द्विविध धनों के प्रदर्शन से स्पष्ट किया। पारलौकिक धन को धर्म कहा। उस धर्म में केवल कर्मजन्य पुण्य ही नहीं उपासनाजन्य पुण्य भी सम्मिलित है। कारण है कि उपासनासहकृत कर्म ही श्रेष्ठफलक माना गया है। किं च अकेला कर्म तो मात्र पितृलोक का साधन है। देवलोक से ब्रह्मलोक पर्यन्त की प्राप्ति तो उपासनासहकार के बिना हो नहीं सकती। इस प्रकार अवान्तर प्रयोजन इस वर्णक में बताया। प्रश्न हो सकता है कि क्या यह अवान्तर प्रयोजन शारीरकशास्त्र का है ? उत्तर है कि अवश्य है। अतएव सगुणोपासना के सारे प्रसंग संगत होंगे। यद्यपि अथशब्दोदित नीराग का अधिकार मानने पर सविशेष फलों की शारीरकीयता में सन्देह होता है तथापि उत्तर प्रसंगों की अन्यथानुपपत्ति से रागनैयून्य के तारतम्य

से व्यवस्था बना लेनी चाहिये। यदि उपक्रम की बलवत्ता का आग्रह हो और विषयाभिलाषामात्र के अभाव वाला ही अधिकारी मानना आवश्यक लगे तब तो उत्तर प्रसंग वैराग्योपोद्बलक मानने होंगे। उस दृष्टि से प्रकृत अवान्तर फलकथन भी उसी प्रयोजन वाला संभव है।

परमप्रयोजनं विरक्तावस्थासंसाध्यमाह—त्यजामीदमिदं सर्वं मोक्षसिद्धय इति। अत्रायमाशयः—प्रथममज्ञावस्थायां कृतसकामकर्मोपासनाभोगसमये विषयसुखस्य अनित्यत्वमनुभूय, तत्र निष्कामः सन्, कृतनित्यप्रायश्चित्तनिष्कामकर्मप्रभावात् प्राप्तविवेकवैराग्यादिः अहं मोक्षसिद्धये इदमिदं सर्वं त्यजामि—इदं देहाद्यन्तःकरणान्तं गेहादिब्रह्मलोकान्तं सर्वमध्यस्तं प्रपञ्चम् अनाद्यविद्ययाऽऽत्मनि रज्जुसर्पशुक्तिकारजतवद्भासमानमपि त्यजामि, स्वप्नार्थं इव तत्र वासनां त्यक्त्वा तत्स्मृतिमपि त्यजामि निर्वासनो भवामीत्यर्थः। कस्मै प्रयोजनाय ? मुक्तिलब्धये।

अब चौथे वर्णक से परमप्रयोजन बता रहे हैं जो उसी स्थिति में प्राप्त हो सकता है जिसमें वैराग्य पूरा हो। पहले तो सभी की अवस्था अज्ञानी की है क्योंकि अज्ञान सदा से प्राप्त है। उस स्थिति में विषयेच्छाओं से प्रेरित हो हम कर्म व उपासनायें करते हैं। किंतु उनके फलस्वरूप जब भोग मिलते हैं तो उनसे होनेवाले सुख की अनित्यता का कटु अनुभव होता है। भोगप्राप्ति से अगले क्षण से ही सुख घटने लगता है। ऐसा बार-बार अनुभव होने पर स्वभावतः हम उसके प्रति निष्काम हो जाते हैं। यद्यपि सर्वसामान्य को यह निष्कामता नहीं मिलती तथापि जिस पर महादेव की कृपादृष्टि पड़ जाये वह तो अवश्य उस अनित्यता के अनुभव से सीख लेता ही है और विषयों के प्रति कामना छोड़ता ही है। तब नित्य वस्तु की प्राप्ति का उपाय खोजने की प्रक्रिया का पता चलाता है। उसमें सबसे पहले निष्कामभाव से नित्य, प्रायश्चित्त आदि कर्म करना आता है। उसके

प्रभाव से विवेक, वैराग्यादि साधनों की प्राप्ति होती है। यद्यपि पूर्व में भी निष्कामता थी तथापि वह उतनी दृढ नहीं थी और विषयमात्र से नहीं थी। नित्य विषय के लिये अनित्य विषय के प्रति कामना समाप्त हुई थी। अब विवेक का फल होने से जो वैराग्य है वह यह है कि विषयमात्र अनित्य अतः हेय है, काम्य नहीं। साधन संपत्ति पाने पर निश्चय बनता है कि निकटतम उपाधि से लेकर दूरतम उपभोग्य तक जितने विषय हैं उन सबको मैं छोड़ता हूँ ताकि मुझे नित्य अविषय मोक्ष की सिद्धि हो। यहाँ त्याग न केवल मन से वरन् यथासंभव स्वरूपतः भी विवक्षित है। मन से तो सभी विषयों से अहंममकार छोड़ना है तथा जिन पत्नी आदि विषयों को स्वरूप से छोड़कर ज्ञानसाधना में बढ़ पायें उन्हें भी स्वरूपतः छोड़ना है, उनके निकट रहना नहीं है। इसी दृष्टि से देहादि मनःपर्यन्त एवं गृह आदि ब्रह्मलोकपर्यन्त विषयों का विभाग कर उनका त्याग बताया गया है। यह सारा ही विषयप्रपंच त्यागयोग्य है व इसे त्यागना संभव है क्योंकि यह अध्यस्त है। कारणरहित जो स्वरूपानवबोधात्मिका अविद्या है उसी से आत्मा रूप अधिष्ठान पर यह प्रपंच अध्यस्त है, कल्पित है। यदि आत्मा से प्रत्यगात्मा ही समझें तो प्रपंच का मुझसे संबंध अध्यस्त है यह तो सरलता से समझ आ ही जाता है, आगे विचार करें तो क्योंकि वास्तविक का सम्बन्ध भी काल्पनिक हो नहीं सकता कारण कि वास्तविक व अवास्तविक (काल्पनिक) एक-दूसरे की दृष्टि से असिद्ध हैं, इसलिये मुझसे कल्पित संबंध वाले पदार्थ स्वयं भी कल्पित ही होने पड़ेंगे और क्योंकि मेरे बिना वे सिद्ध होते नहीं इसलिये कल्पित भी वे मुझमें ही होंगे—यह भी स्पष्ट हो जाता है। यद्यपि शंका हो सकती है कि यदि वास्तविक का संबंध भी काल्पनिक नहीं होता तो आत्मा का भी प्रपंचसम्बन्ध सिद्ध न होगा, अध्यस्त से अधिष्ठान की तरह अधिष्ठान का भी अध्यस्त से सम्बन्ध नहीं होगा और तब निरधिष्ठान भ्रान्ति का प्रसंग आयेगा; तथापि क्योंकि श्रौतदृष्टि से मिथ्या की तुच्छता

है इसलिये सम्बन्ध न होना इष्टापत्ति ही होने से एवं यौक्तिक विरोध के परिहारार्थ यौक्तिकदृष्टि से मिथ्या की अनिर्वचनीयता होने के कारण अनिर्वाच्य सम्बन्ध में विकल्पों का उत्थान न होने से वह शंका निर्मूल है। अतः आत्मा में प्रपंच का अध्यास सुबोध है। इस अध्यास की भीषणता व्यक्त करने के लिये उदाहरण दिया जाता है रज्जुसर्पभ्रम का। निर्भय रज्जु में अध्यस्त सर्प से जैसे भीति आदि दुःख होते हैं वैसे आत्मा में अध्यस्त प्रपंच से दुःख हो जाते हैं। और अध्यास से सुख भी होता है यह दिखाने के लिये दृष्टांत देते हैं शुक्तिरजतभ्रम का। सींप में चाँदी का भ्रम होने पर देखने वाले को सुख होता है 'अहा ! मुझे चाँदी मिल गयी।' उसे लेकर भी जब तक बाध न हो या अर्थक्रिया में व्याघात न हो तब तक 'मैं चाँदी वाला हूँ' ऐसा समझता हुआ सुखी ही बना रहता है। इसी प्रकार आत्मा में कल्पित विषयों से हम सुखी भी होते रहते हैं। जैसे वह चाँदी का सुख है व्यर्थ का क्योंकि वहाँ चाँदी है नहीं, ऐसे ही संसार के पदार्थों का सुख भी व्यर्थ का ही है, कहने भर का है क्योंकि पदार्थों में तो सुख की गंध का लेश भी नहीं है। यद्यपि प्रपंच विस्पष्ट प्रतीत होता है तथापि विवेकजन्य निश्चय है कि यह है नहीं। यही त्याग है। जैसे सपने में दीखे भोगों का जगने पर त्याग होता है और साथ ही उन वस्तुओं के प्रति राग-द्वेष आदि वासनायें भी समाप्त हो जाती हैं, वैसे ही प्रकृत में सभी विषयों का बाध और उनकी वासनाओं की भी निवृत्ति इष्ट है। यद्यपि विषयत्वाविशेष से वासनायें भी बाध का विषय ही बन जाती हैं तथापि उनकी गाढता से उनके त्याग में विशेष प्रयत्न की अपेक्षा करने के लिये पृथक् कथन संगत है। वस्तुतस्तु विषयत्याग तो बाध के बिना भी सिद्ध हो जाता है क्योंकि विषय अनित्य होने से कभी न कभी स्वतः छूट जाते हैं, किन्तु वासना को तो बाध से ही त्यागना पड़ता है। क्योंकि वह बनी रहती है इसीलिये पुनः पुनः विषय-प्राप्ति होती रहती है। मूल विषय तो अविद्या है जिसका बाध

ही त्याग है और वह अपनी वासनाओं समेत ही बाधित होती है। इस त्याग का प्रयोजन है मुक्ति की उपलब्धि। यही शास्त्र का परम प्रयोजन है।

तत्रायं क्रमः—विषयसुखस्याऽनित्यत्वेन तत्र वासनां त्यक्त्वा शमादि सम्पाद्य गुरूपदिष्टतत्त्वमस्यादिवाक्यश्रवणादिजन्याऽपरोक्षात्मज्ञानप्रचण्डमार्तण्डप्रकाशापगताऽज्ञानतमस्कोऽहम् अखंडैकरससत्यज्ञानानन्दात्मलाभविगतशोकः परमानन्दात्मस्वरूप इहैव भविष्यामीत्यर्थः। इहपदोपादानेन 'तरति शोकमात्मविद्', 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति', 'अत्रैवामृतमश्नुते', 'स यो ह वै तत् परमं (ब्रह्म वेद) ब्रह्मैव भवति' इत्याद्याः श्रुतयः (क्रमशः छा. ७.१.२; ; ; मुं. ३.२.९) अनुगृहीता भवन्ति। देहेन्द्रियादिबुद्ध्यन्तात्मवादिनश्च प्रत्याख्याता भवन्ति। भ्रमाधिष्ठानात्मशेषत्व- प्रतिपादनेन च शून्यवादिनोऽपि निरस्ता भवन्ति। इति प्रथमं व्याख्यानम् ॥

विरक्त की मोक्षप्राप्ति में क्रम यह है—विषयसुख अनित्य है अतः उसकी वासना छोड़कर विरक्त शमादि सम्पत्ति एकत्र करता है। तब वह गुरु के उपदेश का अधिकारी होता है। उससे पहले सुना हुआ भी उपदेश कुत्ते को खिलाई खीर की तरह व्यर्थ ही जाता है। यद्यपि कुछ संस्कार व प्रेरणा देना रूप उसका भी फल है तथापि प्रमुख फल के अभाव में उसे व्यर्थ ही कहना असंगत नहीं। अधिकारी जब गुरु से महावाक्य का उपदेश पाता है तब उसका श्रवणादि करने में प्रवृत्त होता है। शास्त्रतात्पर्यनिर्णय का नाम है श्रवण। इसके बाद उस निर्णीत तात्पर्य का युक्ति आदि से विरोध नहीं है इस निश्चय पर पहुँचने का प्रकार मनन शब्द का अर्थ है। तदनन्तर उस तात्पर्य से पृथक् अनुभवों का प्रतिबंध कर तात्पर्यमात्र का अनुभव बनाये रखना निदिध्यासन है। ये तीनों जब परिपुष्ट होते हैं तब आत्मा का—अखण्ड आत्मवस्तु का—अपरोक्ष साक्षात्कार होता है। यद्यपि श्रवणादित्रितय में ही साक्षात्कारहेतुता भगवान् भाष्यकार ने बतायी है तथापि

अपनी-अपनी दृष्टि से व्याख्याताओं ने प्रधान-गौणभाव का वर्णन कर दिया है। अभ्यासी को उस प्रधानादिभाव से कोई अंतर पड़ता नहीं क्योंकि आवश्यकता तीनों की है। प्रकृत सुबोधिनी वाक्य में भी श्रवणरूप जो आदिसाधन उससे जन्य अपरोक्ष आत्मज्ञान एवं श्रवण है आदि में जिसके उस निदिध्यासन से जन्य अपरोक्ष आत्मज्ञान—यों दोनों व्याख्याओं से दोनों संप्रदायों का संग्रह कर सकते हैं । सर्वथापि जो आत्मज्ञान आविर्भूत होता है वह आत्माज्ञान के लिये वैसे ही विरोधी है जैसे अँधेरे के लिये मध्याह्न सूर्य। अतः तत्त्वज्ञानाधिकरणक्षण ही ऐसा है कि उसके 'बाद' अविद्याक्षण नहीं रहता। 'बाद' कहना अटपटा है क्योंकि उससे ज्ञानकाल से पृथग् उत्तरवर्ती काल की संभावना द्योतित होती है। फिर भी समझने के लिये कह सकते हैं। अथवा ज्ञानक्षण में ही अविद्याक्षणपूर्वत्व न होना कह कर समझाया जा सकता है। बात इतनी ही है कि अपरोक्ष आत्मसाक्षात्कार होने से अविद्या सर्वथा बाधित हो जाती है। तब जो अपरोक्षरूप मैं बच जाता हूँ वह अखण्ड—निर्भिन्न ही हूँ। मुझमें कोई तारतम्य नहीं जैसे चीनी में मिठास का तारतम्य नहीं। अतः एकरस हूँ। क्योंकि सारे बाध के अनन्तर स्वतः भासमान हूँ इसलिये सत्य हूँ। जिस कारण मुझे अपने अपरोक्ष के लिये कुछ चाहिये नहीं इस कारण मैं ज्ञान हूँ। अनन्त होने से आनंद हूँ तथा प्रत्यग् होने से आत्मा हूँ। इस अपने वास्तविक स्वरूप की उपलब्धि से मैं सारे शोक से रहित हूँ। इसे उपलब्धि इसलिये कहते हैं कि यह प्राप्ति न होने पर भी उसके सदृश है। अतः जैसे प्रधानसदृश को उपप्रधान कहते हैं वैसे लब्धिसदृश को उपलब्धि कह दिया जाता है। ऐसा परमानन्द स्वरूप वाला मैं यहीं—इसी जीवन में—हो जाऊँगा—ऐसा क्योंकि विरक्त चाहता है इसलिये यह मोक्ष परम प्रयोजन है, अर्थ्यमान है, पुरुषार्थ है।

यह जो कहा कि 'यहीं' मोक्ष पाऊँगा, उससे श्रुति आदि की संगति हो जाती है। वेद में बताया है; 'आत्मज्ञानी शोक से परे हो जाता है'; 'ब्रह्मज्ञ

ब्रह्म ही होता है'; 'यहीं अमृत पाता है'; 'प्रसिद्ध है कि जो उस परब्रह्म को निश्चित जान लेता है वह ब्रह्म ही होता है' इत्यादि। युक्ति व विद्वदनुभव भी इसी से संगत है। युक्ति तो सरल है—मोक्ष जीवित रहते ही अनुभवयोग्य है क्योंकि मोक्ष का स्वभाव ही ऐसा है जैसे कारागारादि से होने वाला मोक्ष। मुक्त आत्मा के स्वरूप के वर्णन से उन वादियों का निराकरण हो गया जो देह से बुद्धिपर्यन्त वस्तुओं को आत्मा मानते हैं। सिद्धान्तबिंदु आदि में इन मतवादों का विस्तार से परीक्षण उपलब्ध है। यह जो बताया कि सारे विषयों का बाध करने पर एक मैं बचा रहता हूँ, इससे उनका खण्डन हो गया जो मानते हैं कि आत्मा है ही नहीं। आत्मा अनात्मा कुछ नहीं है—इसी मान्यता को शून्यवाद कहते हैं । ऐसा नहीं कि शून्यवादी शून्यनामक किसी तत्त्व की पारमार्थिकता मानता हो। वह तो यही कहता है कि भाव व अभाव कोई भी तत्त्व नहीं है। यद्यपि वासिष्ठादि में शून्यवादी का शून्य ब्रह्मवादी के ब्रह्म से अभिन्न कह दिया गया है तथापि वह स्वदृष्ट्या है, शून्यवादी की दृष्टि से नहीं। किंतु सिद्धान्त में बाध की अवधि है स्वप्रकाश साक्षी जो स्वयं सत्यादिरूप है। अतः शून्यवाद निःसाक्षिक होने से खण्डित हो जाता है। निःसाक्षिकता को मूर्ख ही मण्डन मान सकता है। आत्मा तो स्वप्रकाश होने से शून्यविलक्षण है। इस प्रकार परमप्रयोजनबोधक यह चौथा वर्णक हुआ।

'नमः शिवाय' की इस प्रथम व्याख्या में आनन्दफलक उपाधित्याग का प्रतिपादन आचार्य ने किया यह स्पष्ट हुआ।

शिवपञ्चाक्षरी भाष्य

अथवा नमसो वाच्यः प्रणामो दैन्यलब्धये ॥ २ ॥
दैन्यं सेवा तथा ज्ञप्तिः सिद्धिः सर्वस्य वस्तुनः।
नमामि देवदेवेशं सकामोऽकाम एव वा ॥ ३ ॥

मन्त्रराजप्रकाश

'नमः' का प्रसिद्ध अर्थ प्रणाम है। मैं दीनभाव की प्राप्ति के लिये सकाम या निष्काम भाव से विष्णु आदि देवदेवों के भी ईश्वर शिव के लिये प्रणाम समर्पण करता हूँ ॥ २ ॥ दीनता का अर्थ सेवा है। अतः आपकी सेवा या भक्ति करने का अवसर मुझे मिले । ['तथा' के स्थान पर 'तया' भी पाठ है]। शिव की सेवा से ही आत्मज्ञान एवं समग्र पदार्थों की प्राप्ति तथा ऐश्वर्यों की सिद्धि हो जाती है। भाव है कि सकाम होकर शिव को प्रणाम करने से सभी कामनायें पूर्ण होती हैं तथा निष्काम को ज्ञान द्वारा आत्मस्थिति प्राप्त होती है ॥ ३ ॥

सुबोधिनी

अथ द्वितीय व्याख्यानम्।

अथवेति। अथवा प्रकारान्तरे नमसो वाच्यः प्रणामः णम प्रह्वत्वे शब्दे (भ्व. प. अ.), अस्माद्भावेऽसुन्प्रत्यये (उणा. ४, १९०) नमनमिति नमः प्रसिद्ध एव। तत्फलमाह—दैन्यलब्धये । ईश्वरप्रणामस्य फलप्रदत्वे स्मृतिप्रमाणम्—'एकोऽपि कृष्णस्य कृतः प्रणामो दशाश्वमेधावभृथेन तुल्यः' (महा. शां. ४७.९१) इत्यादि। दैन्यशब्दस्यार्थमाह स्वयमेव—दैन्यं सेवा तथा ज्ञप्तिः सिद्धिः सर्वस्य वस्तुन इति। फलितार्थमाह—नमामि देवदेवेशं सकामोऽकाम एव वेति।

अब मन्त्रराज की व्याख्या अन्य प्रकार से करते हैं। इस विकल्प में नमः शब्द का शक्तिलभ्य अर्थ प्रणाम ही है। झुकना तथा कहना अर्थ वाला नम धातु है जिससे धात्वर्थ के ही बोध के लिये असुन् प्रत्यय लगाने पर नमन अर्थ में नमः शब्द सिद्ध होता है। यह अर्थ तो लोकप्रसिद्ध ही है। इस नमन का फल बताया दीनता की प्राप्ति। जैसे धन छूट जाने पर जो स्थिति होती है उसे दीनता कहते हैं वैसे अनात्मा में तादात्म्य के कारण स्वीकृत अपनी असामर्थ्य आदि को अनात्मपक्षपाती जान लेना ही दीनता

है—क्योंकि उससे अपनी सारी विशेषता निवृत्त हो जाती है। स्मृतियों में भी ईश्वरप्रणाम को फलदायी कहा है। पुराण में बताया है कि भगवान् कृष्ण को एक बार प्रणाम करने का उतना ही फल है जितना दस अश्वमेध पूर्ण कर अवभृथस्नान कर लेने का ॥ १ ॥ स्वयं ही आचार्य ने दीनता का अभिप्राय बताया है कि सेवा, ज्ञान व सब वस्तुओं की सिद्धि ही दीनता है । अतः तात्पर्य हुआ कि विषयकामना हो चाहे न हो, मैं देवाधिदेव महादेव को प्रणाम तो करता ही हूँ।

तत्र सकामतापक्षेऽयमर्थः—देवदेवेशं नमामि। किमर्थम् ? दैन्यापरपर्यायसेवालब्धये परमभक्तिप्राप्त्यै—इति भावः। दैन्यमाहात्म्यं निम्बार्काचार्यैरुक्तं स्वकृतदशश्लोक्याम्—

'कृपाऽस्य दैन्यादियुजि प्रजायते यया भवेत् प्रेमविशेषलक्षणा।
भक्तिरनन्याधिपतेर्महात्मनः सा चोत्तमा साधनरूपिकाऽपरा ॥'

इति। पराभक्तिमाहात्म्यसूचकं देवहूतीं प्रति कपिलदेववचनम् 'भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी' ( ) इति। तथा सर्वस्य वस्तुनः सिद्धये—ऐहिकामुष्मिकस्त्रक्चन्दनादिब्रह्मलोकान्तसकलैश्वर्यलब्धय इत्यर्थः।

यदि विषयाभिलाषयुक्त हो प्रणाम किया जाये तो मंत्र का यह भाव है—मैं देवाधिदेव को नमस्कार करता हूँ। क्यों ? दैन्यनामक सेवा या परम भक्ति की प्राप्ति के लिये। दैन्य का माहात्म्य दशश्लोकी में निम्बार्क नामक वैष्णव आचार्य ने यों बताया है—'दैन्य आदि युक्त भक्त पर भगवान् की कृपा होती है जिस कृपा से उन्हीं परमेश्वर में, जो सर्वथा स्वतंत्र हैं और क्षुद्रता से सर्वथा अस्पृष्ट हैं, विशिष्ट प्रेमरूप भक्ति उपजती है। वही उत्तम भक्ति है। उससे पहले वाली तो साधनरूप भक्ति है।' पराभक्ति की महत्ता देवहूती के प्रति कपिलदेव के इस वचन से सूचित होती है 'सिद्धि से भी भक्ति अधिक गौरवशाली है।' जैसे वह पराभक्ति मुझे मिले इसके

लिये प्रणाम है वैसे ही इस लोक के व परलोक के सभी उत्तम इष्ट भोगों की प्राप्ति के लिये प्रणाम है। इस व्याख्या में 'शिवाय' शब्द से कल्याण का कथन मानकर भोगों को अविद्याक्षेत्र में व पराभक्ति को उससे निकाल देने वाली होने से कल्याण समझते हुए योजना है।

अकामस्तु ज्ञप्तिलब्धये। ज्ञप्तिर्ज्ञानमात्मस्वरूपसाक्षात्कारः तत्सिद्धये मोक्षायेत्यर्थः। अनेन ईश्वरस्य भोगमोक्षप्रदत्वात् स्वतन्त्रत्वाच्च तस्यैवोपास्यत्वं नान्यस्येयुक्तं भवति, मोक्षप्रदत्वेन असङ्गत्वं च निरूपितं भवति। इति द्वितीयं व्याख्यानम् ॥ ३ ॥

विषयकामनाओं से रहित साधक इस मंत्र से प्रणाम करता है तो ज्ञान की प्राप्ति के लिये । आत्मा के निरावृत स्वरूप का साक्षात्कार ही ज्ञान है, वही वस्तुतः मोक्ष भी है। निरावृत स्वप्रभ आत्मा ही तो मोक्ष है। अतः मोक्ष के लिये या मोक्षप्रयोजक ज्ञान के लिये नमस्कार है। यहाँ भी 'शिवाय' के शिवशब्द से कल्याण विवक्षित है जो मोक्षात्मक है। इस व्याख्या से बताया कि ईश्वर भोग मोक्ष दोनों के प्रदाता हैं और वे ही एकमात्र स्वतन्त्र हैं, सब देवताओं के भी शासक हैं, अतः उन्हीं की उपासना करनी चाहिये और किसी की नहीं । भगवान् मोक्ष देते हैं कहने से उनकी असंगता का भी निरूपण हो गया क्योंकि अपनी बनायी सृष्टि में आसक्ति होती तो इससे किसी को निकलने क्यों देते ? एवं च यह व्याख्या भी स्पष्टतः सकलकल्याणप्राप्ति का उपाय शिवनमन को सिद्ध कर रही है । यह मन्त्रराज की द्वितीय व्याख्या हुई ॥ ३ ॥

शिवपञ्चाक्षरी भाष्य

नञा निषिध्यते भावविकृतिर्जगदात्मनः।
मसनं देवदेवेश नेह नानास्ति शब्दतः ॥ ४ ॥
अयेति गमयेत्यर्थे तस्माच्छुद्धोऽस्मि नित्यशः।
प्रणामो देहगेहादेरभिमानस्य नाशनम् ॥ ५ ॥

मन्त्रराजप्रकाश

आत्मा का मसन अर्थात् परिणाम जगत् है ऐसा आत्मा से जगत् की उत्पत्ति बताने वाली श्रुतियों से प्रतीत होता है। यह परिणाम जन्म, सत्ता, बदलना, बढ़ना, घटना व नाश होना—इस प्रकार के भेदों से छह प्रकार का है। अतः 'मः' का अर्थ है परिणामी। इन सभी परिणामों का 'न' से निषेध है। अतः वे परमशिव देवदेवेश ही 'नमः' हैं। यहाँ सम्बोधन में 'हे नमः' अर्थात् हे अपरिणामी देवदेवेश ! यह अर्थ है। इस निषेध में 'नेह नानास्ति' (कठ. ४.११) यह वेद ही प्रमाण है। भाव है कि जैसे वेदों ने उत्पत्ति बतायी वैसे ही वास्तविक उत्पत्ति का निषेध भी किया है ॥ ४ ॥ हे शिव ! आप मुझे इस अपरिणामी आत्मतत्त्व को प्राप्त करावें। तभी मैं नित्यशुद्ध हूँ—इस प्रकार का भाव रूप प्रणाम कर सकूँगा जिससे मेरा शरीर, प्राण, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि में अहन्ता और घर, पत्नी, पुत्र आदि में ममता रूप अभिमान नष्ट होना रूप फल पैदा होगा। इस अभिमान का नाश ही वास्तविक प्रणाम है। 'शिव ! नमः, अय'—हे कल्याणस्वरूप ! अपरिणामी आप (मुझे भी वहीं) ले जायें ॥ ५ ॥

सुबोधिनी

अथ तृतीयव्याख्यानम

नञेति। नमः शिवायेत्यत्र हे शिव ! हे देवेश ! नञा अव्ययेन जगदात्मनः जगदाकारेण भासमानस्य अपि परमेश्वरस्य तव मसनं परिणामः भावविकृतिः भावरूपेण विकारः, आकाशादिरूपा देहान्तःकरणादिरूपा च निषिध्यते। कथम् ? मसी परिणामे दैवादिको धातुः (दि. प. से.), तस्य लटि रूपं मस्यतीति; न मस्यति न विपरिणमत इति नमः क्विप्प्रत्ययान्तः, अपरिणामी अविकारीत्यर्थः। तस्य सम्बोधने हे नमः ! इति। केन प्रमाणेन अविकारित्वं परमेश्वरस्य ? इत्यकाङ्क्षायामाह—नेह नानास्ति शब्दतः।

'मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानाऽस्ति किञ्चन।

मृत्योः स मृत्युं प्राप्नोति य इह नानेव पश्यति' ॥ (कठ. ४.११)

इति कठवल्लीश्रुतेः। अस्या अर्थः—इदं ब्रह्म आचार्यागमसंस्कृतेन मनसा एकरसमाप्तव्यं ज्ञातव्यम् आत्मैव नान्यदस्तीति। इह अस्मिन्नात्मनि आप्ते नानाप्रत्युपस्थापिकाया अविद्याया निवृत्तत्वाद् इह ब्रह्मणि नाना किञ्चन अणुमात्रमपि नास्ति, ज्ञातायां रज्जौ सर्प इव। यस्तु पुनः अनिवृत्ताविद्यः इह ब्रह्मणि नानेव देहादिकमात्मत्वादिना नानेव पश्यति, अज्ञातरज्जुरिव सर्पं, स मृत्योर्मृत्युं पुनः पुनः जन्ममरणादिलक्षणं संसारं प्राप्नोतीत्यर्थः। ४।

अब तीसरे ढंग से मन्त्रराज का अर्थ बताते हैं। 'नमः शिव अय'—यह पदच्छेद इस व्याख्या में समझना चाहिये। शिवशब्द तो देवताओं के शासक का वाचक है ही। नमः शब्द की विशेष व्याख्या है। मसी धातु का अर्थ है परिणाम, बदलना। उससे मस्-शब्द बना जिसका अर्थ है बदलने वाला। परमेश्वर ही जगत् के आकार में बदला हुआ हमें दीख रहा है। चाहे आकाशादि प्रपंच हो जिससे कभी तादात्म्य न हो और चाहे शरीरादि प्रपंच हो जिससे प्रायः तादात्म्य बना रहता है, सभी शिव के ही परिवर्तितरूप प्रतीत होते हैं। यद्यपि शिव का यह बदला रूप है ऐसा हमें मालूम पड़ता नहीं तथापि सत् के ही ये सब विशेष हैं यह तो सभी समझते हैं। सत् शिव ही है। किं च शास्त्र से तो पता चलता ही है कि एव शिव ही इन विभिन्न नाम-रूपों में परिवर्तित है। अतः मस् हुआ बदलने वाला ईश्वर। न-शब्द निषेध का वाचक है। स्वसम्बन्धी के अभाव का बोधन—यही 'न' शब्द का स्वभाव है। अतः नमः का अर्थ हुआ नहीं बदलने वाला। चाहे बदला हुआ प्रतीत हो, वास्तव में वह है नहीं बदलने वाला अपरिणामी, अविकारी, कूटस्थ। चित्परिणाम तो प्राप्त ही नहीं, विवर्त ही प्राप्त है, उसका भी निषेध कर अजात का बोध नमः शब्द करता है। परमेश्वर की अपरिणामिता में स्वयं

पद्मपादाचार्य ने कठोपनिषत् का मंत्र प्रमाण दिया है। मंत्र का अभिप्राय यह है—आचार्योपदेश तथा शास्त्र, दोनों के संस्कारों से युक्त मन से इस एकरस परमात्मा को जानना चाहिये कि वही एकमात्र है, बाकी सब नहीं है। उसे जान लेने पर क्योंकि भेद को सत्य दिखाने वाली अविद्या निवृत्त हो जाती है इसलिये भेदसत्यता का भ्रम वैसे ही हट जाता है जैसे रस्सी जान लेने पर साँप का भ्रम। जिसकी अविद्या निवृत्त हुई नहीं वह शरीरादि को आत्मा मानकर उसी परमात्मा में भेदकल्पना करता है जैसे रस्सी को न जानने वाला उसी रस्सी को सांपादि समझता है। वह जन्म-मरण के चक्र में पड़ा ही रहता है। मन्त्र में एवकार भिन्नक्रम है अतः 'मनसा इदमेव आप्तव्यम्' यह सम्बन्ध है। अतः श्रवणादि साधनों की व्यावृत्ति का प्रसंग नहीं। मन कारण तो है ही, करणता में ही मतभेद है। इसीलिये सुबोधिनीकार ने 'एकरसम्' कहा है जो एवकार की ही उक्त अन्वयानुसारी व्याख्या है। स्वयं श्रुति का 'नेह नानास्ति' वाक्य उसी एवकार का विस्तार कर रहा है। नाना प्राप्तव्य नहीं है। परमेश्वर प्राप्तव्य है। यही एवकार से सिद्ध अर्थ है। परमात्मा को जानना चाहिये का अर्थ है अज्ञानहानि से उसे उपलक्षित करना चाहिये अथवा वृत्ति से व्याप्त करना चाहिये। 'इह नाना नास्ति' में इह-शब्द ज्ञातात्मबोधक है क्योंकि अज्ञातात्मा में तो नाना का निषेध संभव नहीं। नानात्व का स्वरूपसद् अभाव निष्फल है। अधिष्ठानज्ञानप्रयुक्त नानात्वाभावज्ञान का ही उपयोग है। असर्पत्वप्रकारक रज्जुज्ञान की सर्पबाध में अपेक्षा होने पर भी रज्जुज्ञान से ही सर्पाभावनिश्चय की तरह अद्वितीय ब्रह्म के ज्ञान से द्वैतबाध होने पर भी ब्रह्मज्ञान से ही द्वैत का अभाव मालूम पड़ता है। क्योंकि अभेद भेदाभावरूप न होकर स्वरूप है इसलिये कोई दोष नहीं है। आचार्य ने जो कहा है 'नेह नानास्ति शब्दतः', वहाँ 'नेह नानास्ति' यह एक प्रमाण बताया और 'शब्दतः' कहकर उपलक्षणया अन्य प्रमाण सूचित कर दिये। रूपादिधर्मिग्राहक प्रत्यक्ष नीरूपादि भेद में प्रमाण हो नहीं

सकता । क्योंकि भेद की अपेक्षा से ही सिद्ध होता है इसलिये भेद पक्ष या साध्य बनने में असमर्थ है । अतएव इसका हेतुसम्बन्ध भी प्रमाणवेद्य नहीं। अतः भेद अनुमानसिद्ध नहीं। व्यवहारसिद्धि वस्तु से ही हो जाती है जिससे अर्थापत्ति भी भेद में प्रमाण नहीं । 'घड़ा कपड़ा नहीं है' इस ज्ञान के विषयरूप से भी भेद सिद्ध होता नहीं। प्रसक्त का ही प्रतिषेध हुआ करता है। घड़े का कपड़ा होना किसी भी तरह प्रसक्त नहीं है, प्राप्त नहीं है अतः उसका निषेध क्योंकर संभव होगा ? एवं च अनर्थक निषेध किसी अर्थ का साधक नहीं है। यदि कल्पित अभेद से, अर्थात् अभेद के आहार्य ज्ञान से प्रसक्ति कही जाये तो सिद्ध भी कल्पित ही भेद होगा जिससे हमें कोई हानि नहीं। अतएव योग्यानुपलब्धिरूप छठा प्रमाण भेद को विषय नहीं करता। अप्रसक्ति ही अयोग्यता समझनी चाहिये। शब्द भी भेद में प्रमाण नहीं। वेदरूप शब्द तो भेदनिषेधपूर्वक अद्वैत में तात्पर्य वाला है ही । अन्य शब्द स्वेतरमानगम्य के ही बोधक होते हैं। अतः वे भी इसमें प्रमाण नहीं हैं। भेदनिषेध से ही भेदसिद्धि मानी नहीं जा सकती, अन्यथा वदतोव्याघात से निषेध अप्रमाण होने लगेगा। एवं च 'नेह नानास्ति शब्दतः' द्वारा आचार्य ने भेदनिरासपूर्वक अद्वितीय की सिद्धि कर दी।

नमःशब्दार्थमुक्त्वा शिवायेत्यत्र अय-शब्दार्थमाह—अयेति गमयेत्यर्थे। गमयेत्युक्ते कं कुत्र गमयेयम् ? इत्याकांक्षायामाह—प्रणाम इति। देहादेरन्नमयादिकोशपञ्चकस्य, गेहादेः सकलभूतभौतिकाकाशादिचतुर्दशलोकात्मकस्य जगतो योऽभिमानः, इदमहमस्मीति देहाद्यभिमानः, तथा इदं मेऽस्ति इदं मे स्यादिति ऐहिकामुष्मिकभोग्यविशेषगेहादेरभिमानः; तस्य द्विविधस्यापि अभिमानस्य नाशनं निवर्तनं प्रणामः। कुत एतत् ? प्रणामस्य आत्मसमर्पणात्मकत्वाद् अभिमानद्वयत्यागं विना आत्मसमर्पणं न संभवति, अहं च त्वां प्रणतः त्वद्भक्तो निर्गतदेहगेहाद्यभिमानः तस्माद् नित्यशः सदा शुद्धोऽस्मि

अधिकारी च, अतो मामेवात्मनि अय गमयेत्यर्थः। अपरिणामिनि निर्विकारे निरवच्छिन्ने सदैकरूपे त्वयि स्थानान्तरगमनवद् गमनाऽसम्भवाद् ममापि वस्तुतः पूर्णात्मनः त्वत्तोऽभिन्नत्वेन त्वद्रूपत्वाद् अनाविर्भूतमिव आत्मानमेव आत्मज्ञानप्रदानेन आविर्भूतमिव कृत्वा परिपूर्णानन्दैकरसात्मानमेव मां कुर्वित्यर्थः। इति तृतीयं व्याख्यानम् ॥ ५ ॥

नमः—शब्द का अर्थ तो बता दिया। अय—शब्द का अर्थ है पहुँचाइये। अतः प्रश्न उठता है—किसे कहाँ पहुँचाऊँ ? इसके उत्तर में ही आचार्य ने प्रणाम शब्द और उसका अर्थ उपस्थित किया है। शरीरादि पाँचों कोशों का और घर आदि सारे जगत् का जो मेरा अभिमान है उसकी निवृत्ति ही प्रणाम है। 'यह मैं हूँ' ऐसा अभिमान कोशों में होता है । 'ये मेरे हैं, या हो जावें' ऐसा अभिमान बाकी जगत् का होता है। दोनों ही अभिमानों की समाप्ति प्रणाम है। अपने आपको समर्पित करना ही प्रणाम का भाव है तथा जब तक अभिमान न छोड़ें तब तक समर्पण हो नहीं सकता, अतः प्रणाम से अभिमान-निवृत्ति समझी जाती है। इस प्रकार अभिमान छोड़ चुका जो मैं आपका भक्त हूँ उस मुझ अधिकारी को पहुँचाइये। यह 'किसे पहुँचाऊँ ?' का उत्तर हुआ। 'कहाँ पहुँचाऊँ ?' का उत्तर है—निरभिमान होने से ही मैं सदा शुद्ध हूँ। उस मेरे शुद्धरूप तक मुझे पहुँचाइये। जैसे मथुरादि स्थान से काशी आदि अन्य स्थान पर पहुँचाया जा सकता है ऐसे परिणाम-विकार-सीमा-रहित एकरस आत्मस्वरूप शिव में मुझे पहुँचाया तो जा नहीं सकता इसलिये भाव यह है कि वस्तुतः मैं परिपूर्ण आपसे अभिन्न ही हूँ किंतु इसका मुझे प्रकाश नहीं है, आत्मज्ञान देकर उसी स्वरूप को निरावृत कर दीजिये। उसी से मैं अनन्त निर्विशेष आनन्द हो जाऊँगा। इस व्याख्या में 'नमः' शब्द का तन्त्र से प्रयोग समझना चाहिये। तभी 'प्रणामः' आदि की संगति होगी। 'तस्मात्' का अर्थ है आपके द्वारा उस प्राप्ति के कराये जाने से। प्राप्ति की ज्ञानैकरूपता बताने के लिये 'नित्यशः' कहा।

नित्य की ही ज्ञानमात्ररूप प्राप्ति होगी। अनित्य की तो अन्य भी प्राप्ति संभव है। यहाँ शिव से तत्पदवाच्य, नमः से उसका लक्ष्य और प्रणाम से त्वम्पद के दोनों अर्थ कहकर 'तस्माद्' आदि से अभेदोपदेश व्यक्त किया गया है। इस प्रकार यह मंत्रराज का तीसरा व्याख्यान हुआ ॥ ५ ॥

शिवपञ्चाक्षरीभाष्य

शिवो ब्रह्मादिरूपः स्याच्छक्तिभिस्तिसृभिः सह।
अथवा तुर्यमेव स्याद् निर्गुणं ब्रह्म तत् परम् ॥ ६ ॥
नमसो नमने शक्तिः नमनं ध्यानमेव च।
ङेन्तात् तादात्म्यसम्बन्धः कथ्यते प्रत्यगात्मनोः ॥ ७ ॥
अहं शिवः शिवोऽहं च मन्ये वेदान्तनिष्ठया।
इत्येवं नम इत्युक्तं वेदैः शास्त्रैश्च सर्वशः ॥ ८ ॥
अथवा दास एवाहमहं दास इतीरणम्।
इत्येव नम इत्युक्तं वेदैः शास्त्रैश्च सर्वशः ॥ ९ ॥
अथवेदमिदं सर्वं त्यजामि परमाप्तये।
अर्थं धर्मं च कामञ्च वाञ्छँश्च जगदीश्वरम् ॥ १० ॥
एतन्मन्त्रार्थतत्त्वज्ञैर्वेदवेदान्ततत्परैः।
निर्णीतं तत्त्वगर्भं यद् विज्ञेयं मुक्तिलब्धये ॥ ११ ॥
अथवा मुक्तिलाभाय ध्येयं तत्त्वं विवेकतः।
भिन्नं बुद्ध्वा हृदा देवं मन्त्रेणेशं जगद्गुरुम् ॥ १२ ॥

मन्त्रराजप्रकाश

इच्छा, ज्ञान व क्रिया शक्तियों द्वारा शिव ही ब्रह्मा विष्णु तथा शम्भु रूप धारण करते हैं । इन तीन शक्तियों के लीन होने पर वे तुरीय अवस्था में निर्गुण परब्रह्म ही हैं ॥ ६ ॥

नमः का अर्थ नमन अर्थात् ध्यान ही है। चतुर्थी 'ङे' अर्थात् 'आय' का अर्थ एकता का सम्बन्ध है। अर्थात् शिव व प्रत्यगात्मा में तादात्म्यसम्बन्ध है। शक्तियों में भेद होने पर भी शक्तिमान शिव में अभेद है। जीव की जाग्रत् स्वप्न व सुषुप्ति अवस्थाओं से शून्य दशा में तथा शिव की निर्गुण दशा में कोई भेद नहीं है ॥ ७ ॥

अतः 'मैं शिव हूँ, शिव मैं हूँ' इस प्रकार वेदान्तनिष्ठा से मानता हूँ। वेदों तथा शास्त्रों द्वारा सब प्रकार से इस अभेदभाव को ही 'नमः' कहा गया है। भाव है कि निर्गुण शिव से एकता का ध्यान करना ही मन्त्रार्थ है ॥ ८ ॥

शिव तीनों शक्तियों से युक्त हैं अतः मैं अपने आपको उनके समर्पण करता हूँ । इसलिये मैं दास हूँ, दास ही मैं हूँ—इस प्रकार का पुनः-पुनः कथन और विचार भी वेदों तथा शास्त्रों में 'नमः' का अर्थ प्रतिपादित है। शिव के लिये ही मैं दास हूँ—इस भाव से देह आदि तथा पत्नी, राज्य आदि की दासता निवृत्त होकर शिवकृपा से शिवभाव की प्राप्ति हो जाती है ॥ ९ ॥

परम अवस्था अर्थात् तुरीय अवस्था की प्राप्ति के लिये इदन्ता से प्रतीयमान यह सब छोड़ता हूँ अर्थात् उनसे अपना अभिमान हटाता हूँ। जगदीश्वर को चाहने से अर्थ, धर्म और काम—सभी को छोड़ता हूँ। इससे कर्मसंन्यासरूप एषणात्यागात्मक श्रीपरमहंस अवस्था को बताया गया है ॥ १० ॥

वेद व वेद के सिद्धान्त में तत्पर मन्त्रराज के अर्थ के रहस्यों के ज्ञाताओं ने इसी त्रिविध पुरुषार्थ के त्याग से परम पुरुषार्थ की प्राप्ति इस मन्त्र का तत्त्व बताया है। जो इसमें शिवरूप तत्त्व छिपा है उसको मुक्ति के लाभ के लिये जानना चाहिये। अतः परमहंससंन्यास द्वारा शिवतत्त्व की इच्छा करता हुआ सर्वस्व त्याग करता हूँ—यह मन्त्रार्थ है। इसी अर्थ को पूर्वाचार्यों द्वारा सम्प्रदायसिद्ध कहकर शंकरभगवत्पाद द्वारा स्वीकृत बता रहे

हैं। अतः इस अर्थ को मुख्य बताया जा रहा है। इस प्रकार विषय, साधन, साध्य, फल आदि समग्र वेदान्तरहस्य इस मंत्र में प्रतिपादित है ॥ ११ ॥

शिव या कल्याण मुक्ति को पाना ही है। 'नमः' का अर्थ ध्यान है। अतः मुक्ति की प्राप्ति के लिये तत्त्व का ध्यान करना चाहिये—इस प्रकार मन्त्र का अर्थ है। जीव या पुरुष को मन या प्रकृति से विवेक द्वारा अलग कर समझना एवं साक्षिरूप से अपने को जानना ही ध्यान है। हृदय या बुद्धि से जगद्गुरु ईश्वर देव को माया व तत्कार्य से भिन्न समझना द्वैतदर्शन में है, पर प्रारम्भिक साधन में इसकी सहायता लेकर मन्त्र का जप कर सकते हैं। यहाँ पाशनिवृत्ति के लिये पशुपति का ध्यान पशु करता है। शिवशब्द की ध्वनि से पशुपति की प्रसन्नता के लिये अर्थ उपलब्ध हो जाता है ॥ १२ ॥

सुबोधिनी

अथ चतुर्थं व्याख्यानम्

शिव इति। शिवः परमात्मा तिसृभिः स्वमायागुणकृताभिरीक्षणादिव्यापारहेतुभूताभिः सर्जन-पालनविलापनशक्तिभिः सहितः सन् ब्रह्मादिरूपः स्यात्। अत्र श्वेताश्वतरश्रुतिः 'तमीश्वराणां परमं महेश्वरम्' (६.७) इत्यादिः। अत्र भाष्यम् ईश्वराणां जगदुत्पत्तिस्थितिलयहेतुभूतानां ब्रह्मविष्णुरुद्राणां परमम् उत्कृष्टं महेश्वरं च ईश्वराणामपि ईशितृत्वस्य तदधीनत्वाद्—इति। शिवपुराणे च द्वितीयाध्याये सद्रूपाद् ब्रह्मण एव ईक्षणपूर्विका प्रकृतेरुत्पत्तिः, तत एव पुरुषोत्पत्तिः, तौ च आकाशवागुक्तकृततपःप्रभावोत्पन्नजलशयनाद् नारायणी-नारायणनामानावास्ताम्, नारायणनाभिकमलाद् ब्रह्मोत्पत्तिः, विष्णुसमागमः, तयोः संशयोच्छेदार्थं लिङ्गप्रादुर्भावः, तत्प्रमाणाऽज्ञाने पञ्चास्यशिवप्रादुर्भावः वरप्रदानं च, रुद्रोत्पत्तिः,

ब्रह्माणी-लक्ष्मी-कालिकानां प्रकृतेरुत्पत्तिः, ब्रह्म-विष्णु-रुद्रेभ्यः तत्प्रदानम् इति। अत्र कारणस्य सत ईक्षणादिनिरूपणाज्जडायाः प्रकृतेः तदसम्भवात् प्रकृतेः स्वरूपस्य च ईक्षणमात्रत्वनिरूपणात् साङ्ख्यादिमतनिरास इति। एतेन सगुणोपासनमुक्तं भवति।

अब चौथे ढंग से 'नमः शिवाय' को समझाया जायेगा। शिवनामक परमात्मा तीन शक्तियों के साहचर्य से ब्रह्मा विष्णु रुद्र रूप हो जाते हैं। प्रसिद्ध त्रिमूर्ति जिसकी है वह परमात्मा है, वही शिव है यही श्रौत सिद्धान्त है। वेद से विलक्षण मार्ग वाले उस परम तत्त्व में भी नाम-रूप का आग्रह रखने से नाना विकल्प मानकर उसे विष्णु, कृष्ण, देवी आदि बताते हुए खुद भी भ्रांत हैं व अन्यों को भी भ्रांत करते हैं। विष्णु आदि नाम परमात्मा के हैं इसमें संदेह नहीं किन्तु वे मतवादी इन नामों का और इनके साथ जुड़ी अन्य विशेषताओं का जो आग्रह करते हैं, वह वेदविरुद्ध है। वैदिक तो परमात्मा को शिवशब्द से ही प्रायः लक्षित करते हैं। उसी शिव की सर्वकार्यकारी माया शक्ति है। उस माया में विविध गुण भी मायिक हैं। उन गुणों की प्रधानता की विवक्षा से शक्ति को भी (विशिष्ट को शुद्ध से अतिरिक्त मानकर) तीन कह दिया जाता है। वे तीन शक्तियाँ—अर्थात् सत्त्वादि एक-एक गुण से विशिष्ट माया—परमात्मा के ईक्षण आदि व्यापारों में हेतु बनती हैं। यहाँ भी शुद्ध चित् से मायावी चिद्रूप परमात्मा के भेद की विवक्षा से औपाधिक भी ईक्षणादि परमात्मा का ही व्यापार है। इस रीति से ईश्वर का स्वरूप स्वतंत्ररूप से स्पष्ट होता है। ईश्वररूप का भी विवेक करें तो ईक्षण ही असिद्ध होने पर चिद् या अचित् पक्षपातिता के विकल्पों का अवसर नहीं आता। ये शक्तियाँ क्रमशः सृष्टि, पालन और विलय करने वाली हैं और मायावी परमात्मा ही इन तीन शक्तियों से सम्बद्ध समझा जाने पर ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र नामादि वाला होता है। जैसे देवदत्त ही पिता आदि होता है, वैसे समझना चाहिये। इस विषय को श्वेताश्वतर

उपनिषत् ने यों स्पष्ट किया है 'उस परमात्मा को हम ईश्वरों से परे और महेश्वर जानते हैं'। इसके भाष्य में बताया है कि 'ईश्वरों से' यहाँ ईश्वर कहा गया है जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय के कारणरूप ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र को। परमात्मा उनसे परम अर्थात् उत्कृष्ट हैं—उनके प्रातिस्विक स्वरूपों से परिच्छिन्न नहीं हैं। तथा वे महेश्वर हैं क्योंकि उक्त त्रिविध एवं अन्य भी ईश्वरों की जो ईशितृता-शासनसामर्थ्य-है, वह परमात्मा के अधीन है। विशेषणभेद से होने वाले विशिष्ट-भेद को दृढ याद रखने से ही ये व्यवस्थायें हृदयंगत होंगी, अन्यथा मतान्तरों की तरह भ्रम ही होगा। ऐसे ही शिवपुराण के द्वितीय अध्याय में परमात्मा को स्पष्ट किया है। वहाँ बताया है कि सद्रूप ब्रह्म से ही ईक्षणपूर्वक प्रकृति उत्पन्न हुई और उसी से पुरुष की उत्पत्ति हुई। आकाशवाणी के अनुसार उन्होंने तप किया जिसके प्रभाव से जलाशय उत्पन्न हुआ जिसमें वे सो गये और नारायणी तथा नारायण नाम वाले हुए। नारायण के नाभिकमल से ब्रह्मा उत्पन्न हुए व उनका विष्णु से मिलन हुआ। आपसी श्रेष्ठता के विषय में संशय होने पर संशय मिटाने के लिये उनके सम्मुख शिवलिङ्ग प्रकट हुआ। कोशिश करने पर भी ब्रह्मा व विष्णु जब उसका परिमाण पता लगा नहीं सके तब पंचमुखी शिव प्रकट हुए। उन्होंने विष्णु को वर दिया। रुद्र की उत्पत्ति हो चुकने पर प्रकृति से ब्रह्माणी, लक्ष्मी और कालिका—इन तीन का उद्भव हुआ और इन्हें क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र को दिया गया। इस पुराणप्रसंग में भी सद् ब्रह्म का ही ईक्षणादि हुआ ऐसा निरूपण होने से सांख्यादि मत खंडित हो जाते हैं क्योंकि वे मानते हैं कि जड प्रकृति आदि से सृष्टि होती है जबकि जड में ईक्षण हो नहीं सकता और ईक्षण-पूर्वक ही सृष्टि पुराण बता रहा है। किं च केवल ईक्षण से प्रकृति की उत्पत्ति कहने से प्रकृति का स्वरूप केवल ईक्षणरूप ही है यह बता दिया। इससे प्रकृति की नित्य-सत्य-स्वतंत्रता का निषेध हो गया। अतः आमूल ही मतांतर निरास स्पष्ट है। शिवशब्द की इस व्याख्या से सगुण उपासना का आचार्य ने प्रतिपादन किया।

अथ निर्गुणतुर्यब्रह्मरूपशिवप्रतिपादिकां माण्डूक्यश्रुतिमाह। 'प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः' (७) इति माण्डूक्यश्रुतिमेवानुसृत्याह—अथवेति। अथवा पक्षान्तरे शिवशब्देन सगुणं निर्गुणं च ब्रह्म उच्यते लक्ष्यते च ॥ ६ ॥

अब शिवशब्द से निर्गुण परमेश्वर को सूचित करते हैं। माण्डूक्य उपनिषत् ने कहा है कि शिव वह है जिसमें प्रपंच सर्वथा उपशान्त है, जो स्वयं शान्त है, जिसमें कोई भेद नहीं है और जो चौथा माना जाता है। वही आत्मा है और उसी का अनुभव मोक्षहेतु है। इस श्रुतिवाक्य में निर्गुण परमेश्वर को स्पष्ट ही शिवशब्द से इंगित किया है। इसी से आचार्य ने कहा—अथवा वह चौथा निर्गुण पर ब्रह्म ही शिव है। यहाँ यह याद रखना है कि शिवशब्द शक्तिवृत्ति से सगुण ब्रह्म का—पूर्वोक्त महेश्वर का—वाचक है और लक्षणावृत्ति से प्रकृत निर्गुण ब्रह्म का—शिव का—बोधक है। ये भी दो ब्रह्म नहीं हैं। आरोपदृष्टि से वही सगुण है और अपवाददृष्टि से वही निर्गुण है। अतएव लक्षणा भी संभव है। जैसे 'सोऽयम्' स्थल में सः पद का वाच्य और लक्ष्य वस्तुतः भिन्न व्यक्ति नहीं हैं अतः लक्षणा सरल है वैसे प्रकृत में भी समझना चाहिये। शक्तैकदेशमात्र शक्त न होने से तन्मात्र-बोध लक्षणा से ही होना निश्चित है। शुद्ध में शक्तैकदेशता अतः शक्तिसम्बन्ध मानना रूप दोष भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि शक्तैकदेशान्तरसाहचर्य या तदुपलक्षितत्व या तदुपहितत्व ही रहने से शुद्ध में दोनों का प्रसंग नहीं ॥ ६ ॥

शिवशब्दार्थमुक्त्वा नमःशब्दार्थमाह—नमसो नमने शक्तिरिति। नमः शब्दस्य नमने नम्रीभावे शक्तिः। नमनमिति नमः, भावेऽसुन्। नमःशब्दलक्ष्यार्थमाह—नमनं ध्यानमेव च। ध्यानं निदिध्यासनमेव। शिवायेति तादर्थ्ये चतुर्थी, तस्याः शिवार्थमर्थः, प्रत्यगात्मतादात्म्यलाभायेत्यर्थः। तथा च वाक्यार्थः—अहं शिवतादात्म्यलाभाय नमनं निदिध्यासनं करोमि, तेन ध्यातृध्याने

परित्यज्य ब्रह्माहमस्मीतिध्येयैकगोचराज्ञातवृत्तिप्रवाहसम्पादनेन आत्मनि एव समाहितो भविष्यामीत्यर्थः ॥ ७ ॥

शिवशब्द का अर्थ समझाकर अब नमःशब्द का अर्थ बताते हैं। नमस्-शब्द अपनी शक्ति से नमन का वाचक है। नमन अर्थात् नम्रीभाव। यह तो वाच्य हुआ। नमःशब्द लक्षणावृत्ति से ध्यान का बोधक है। यहाँ ध्यान से निदिध्यासन समझना चाहिये। संशयादिरहित प्रामाणिक निश्चय को बनाये रखना, उससे भिन्न निश्चय बनने न देना—यह निदिध्यासन कहा जाता है। 'शिवाय' में जो चतुर्थी है वह तादर्थ्य के अभिप्राय से है। 'तादर्थ्ये चतुर्थी वाच्या' ऐसा कात्यायन का वचन है। उपकार्योपकारकता, कारणता इत्यादि सम्बन्धविशेष ही तादर्थ्य कहे जाते हैं। अर्थशब्द प्रयोजनवाचक प्रसिद्ध है अतः तादर्थ्य, तदर्थता का मतलब तत्प्रयोजनकता समझ सकते हैं। तात्पर्य है कि एक वस्तु को किसी अन्य वस्तु के प्रयोजन वाला बताना हो तो जिस प्रयोजन वाला बताना होता है उसके वाचक शब्द को चतुर्थी विभक्ति में रखा जाता है। प्रसिद्ध दृष्टान्त है 'यूपाय दारु'—यह लकड़ी यूप के लिये है। यूप एक विशिष्ट खम्भे को कहते हैं जिससे यज्ञांग पशु बाँधा जाता है। उक्त प्रयोग से ज्ञान होता है कि दारु अर्थात् लकड़ी यूप के प्रयोजन वाली है—यूपरूप प्रयोजन उस लकड़ी से सिद्ध होना है। इसी तरह 'शिवाय' का अभिप्राय हुआ शिवार्थ—शिव के लिये। शिव अर्थात् कल्याण और निरवच्छिन्न कल्याण यही है कि प्रत्यगात्मा से अतिरिक्त सर्वत्र आत्मबुद्धि न होना । वस्तुतः शिव का निजस्वरूप भी यही है। अतः इसके प्रयोजन से नमनशब्दित निदिध्यासन है, यह भाव है। सुबोधिनीकार ने 'प्रत्यगात्मतादात्म्यलाभाय' और 'शिवतादात्म्यलाभाय' कहा है। यद्यपि तादात्म्य से तन्निष्ठधर्मादि या भेदाभेद या तदनतिरिक्तसत्ताकत्व प्रायः समझा जाता है तथापि यहाँ अभेदपरक ही तादात्म्यशब्द है। अतः 'नमः शिवाय' वाक्य का अर्थ हुआ—मैं शिव से अभेद के प्रयोजन से निदिध्यासन करता हूँ।

इस निदिध्यासन में ध्याता और ध्यानक्रिया इन दोनों के भान को छोड़कर ध्येयमात्र को विषय करने वाली 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसी वृत्तियों का प्रवाह चलता है और उस काल में वे वृत्तियाँ जानी नहीं जाती। जैसे गहरी नींद में सुखादिगोचर वृत्ति होने पर भी उस समय जानी नहीं जाती वैसे यहाँ भी ध्येयगोचर वृत्ति तत्काल जानी नहीं जाती। 'इतने समय तक मैं समाहित रहा' इस व्युत्थित स्मृति से ही उनका अस्तित्व मालूम पड़ता है। किंतु जैसे सुषुप्ति में सुख रहा ही वैसे इस अभ्यास काल में भी अद्वैतप्रकाश अवश्य रहता है । सुषुप्ति तो तामस होने से वहाँ सुख का भी स्फुट प्रकाश चाहे न हो, निदिध्यासन सात्त्विक होने से इसमें अद्वैत का स्फुट प्रकाश है। वृत्तियों का तत्काल भान नहीं है। इस अभ्यास में मैं केवल आत्मा में समाहित हो जाऊँगा—यह 'नमः शिवाय' कहने वाले का अभिप्राय है । इस समाहितता से भी चेतोवृत्ति का अचांचल्य न समझकर साक्षीतर में अहम्भाव का अनुदय ही समझना चाहिये। यही निदिध्यासन को समाधि से पृथक् करता है। समाधि तत्काल में अनात्मा में आत्मधी नहीं होने देती पर असमाधि काल में उस धी को रोक नहीं सकती। निदिध्यासन का प्रयोजन है अनात्मा में आत्मधी को सर्वथा समाप्त कर देना जिससे निदिध्यासन न करने पर भी कभी अनात्मा में आत्मधी न हो। एवं च समाधि तो यावज्जीवन करनी चाहिये, पर निदिध्यासन स्वयं को अकर्तव्य बनाने में समर्थ है; अपना फल देकर वह खुद भी छूट जाता है। अतः सम्यग् आधान तो निदिध्यासन से ही होता है। आधान अर्थात् रखना या रखा जाना। उसका सम्यक्त्व यही है कि जहाँ रखा हो वहाँ से हटे नहीं। एवं च अनात्मा में आत्मधी की निवृत्ति का रखा जाना तभी सम्यक् होगा जब फिर वह धी बने नहीं। अतः टीकाकार ने समुचित प्रयोग किया है 'समाहितो भविष्यामि'—समाहित हो जाऊँगा ॥ ७ ॥

एवमात्मनिष्ठस्य आत्मानं परिपूर्णानन्दैकरसं जानत आनन्दोद्गारमाह—अहं शिवः शिवोऽहं चेति। **एवं नम इत्यस्य ध्यानार्थत्वे हेतुमाह—यतःकारणात् सर्वैः वेदैः 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' (बृ. २.४.५) इत्यादिभिः। शास्त्रैश्च**

'शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया।

आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्'॥ (गी ६.२५) इत्यादिभिः ध्यानमेवोक्तम् इति हेतोः नमःशब्दस्य तात्पर्यमप्येवमुक्तं 'नमनं ध्यानमेव चेति। एवं वेदान्तनिष्ठया 'तत्त्वमसि' (छा. ६.९.४) 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृ १.४.१०) इति आत्मनिष्ठो भवामीत्यर्थः॥२॥

पूर्वोक्त उपाय से जो आत्मनिष्ठ महात्मा निःसीम निर्विशेष आनन्द को ही अपना स्वरूप जानता है उसकी आनन्दसूचक अभिव्यक्ति भगवान् पद्मपाद ने दिखाई—मैं शिव हूँ, शिव मैं हूँ—यह कहकर। दोनों प्रकार से कहना अत्यन्त अभेद को स्पष्ट करने के लिये है यह आकरों में (ब्र. सू. ३.३.३६) स्थित है। नमः शब्द से ध्यान समझना इसलिये चाहिये कि यहाँ शिवभाव की प्राप्ति के प्रयोजन वाला पदार्थ नमः कहा है और श्रुति-स्मृति ने ध्यान को उक्त प्रयोजन वाला बताया है। अतः शास्त्रविरोध न हो इसलिये यही अर्थ उचित है। वेद ने कहा है—आत्मा ही दर्शन के योग्य है इसलिये उसके बारे में सुनना और सोचना चाहिये तथा उसका ध्यान करना चाहिये। ऐसे ही गीता में बताया है—धैर्य से नियंत्रित की हुई बुद्धि से धीरे-धीरे मन को अनात्मा से उपराम कर केवल आत्मा में स्थित करे तथा और कुछ भी न सोचे। इन वचनों से ध्यान की शिवभावप्राप्ति के प्रति उपायता व्यक्त है। यद्यपि साधनान्तर भी शास्त्रों में कहे हैं तथापि क्योंकि नमः की शक्ति नम्रीभाव में है और नम्र जिसके प्रति होते हैं उसे ही मुख्य समझकर निरंतर उसे सोचते हैं इसलिये इस समानता से निदिध्यासन ही नमः का लक्ष्य होना संगत है। अथवा विज्ञानात्मक निदिध्यासन को लक्ष्य समझें तो भी उचित है क्योंकि वही प्रधान है। अथवा कुछ एकदेशी पण्डित निदिध्यासन को ही मुख्य साधन मानते हैं, अतः उसे ही लक्षणा से समझा जाये यह भी उचित है। वस्तुतः क्योंकि निदिध्यासन

आक्षेपवश श्रावण-मनन का बोध कराता ही है, कारण कि उनके बिना इसका स्वरूपलाभ ही नहीं होता, इसलिये इसे आचार्य ने नमः से लक्षित किया है। इस प्रकार 'नमः शिवाय' का साधक जानता है कि 'मैं वेदांतनिष्ठा से आत्मनिष्ठ हो जाता हूँ'। वेदांत का अर्थ है महावाक्य। उसमें निष्ठा का अर्थ है उसके तात्पर्यविषयीभूत अर्थ का निरंतर प्रकाश होना। इसी से आत्मनिष्ठा होती है अर्थात् अनात्मा को आत्मा मानना रूप अनात्मा में स्थिति न रहकर स्वमहिमप्रतिष्ठित आत्मा का प्रौढ प्रकाश॥८॥

मन्दमध्याधिकारिणावुद्दिश्याह—अथवा दास एवाहमिति। नमःशब्दं नमस्कारार्थमभिप्रेत्याह—नम इति। नमस्करोमीत्येव ईरणं कथनं यत् तद् दास एवाहमहं दास इतीरणम्। कुतः? यतः सर्वशः सर्वैः वेदैः 'ईशानः सर्वविद्यानामीश्वरः सर्वभूतानाम्' (महा. २१.) इत्यादिभिः सर्वभूतनियन्तृत्वकथनेन भूतानां दासत्वम्, ईश्वरप्रवर्त्यत्वमुक्तम्। शास्त्रैश्च

'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।

भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया'॥ (गी. १८.८१)

इत्यादिभिश्च ईश्वराधीनत्वकथनेन जीवानां दासत्वमेवोक्तं भवतीति॥९॥

तत्त्वसाक्षात्कार की योग्यता वाले उत्तम अधिकारी के अभिप्राय से पंचाक्षरमन्त्र समझाकर मन्द व मध्यम अधिकारी की दृष्टि से मन्त्रार्थ स्पष्ट करने के लिये आचार्य ने कहा है—अथवा नमः शब्द से यही सूचित है कि मैं दास ही हूँ। 'मैं नमस्कार करता हूँ' इसका अभिप्राय यही है कि दास ही मैं हूँ, मैं दास हूँ। यहाँ दो तरह से दास हूँ कहने का तात्पर्य यह व्यक्त करना है कि मैं दास से अतिरिक्त कुछ नहीं हूँ। अतः मेरी सब चेष्टाएँ स्वाम्यर्थ हैं यह भाव है। जीव की दासता शास्त्र से सिद्ध है। वेद कहता है 'महादेव ही सब विद्याओं के और प्राणियों के शासक हैं'। जब वे नियन्ता हैं तो अर्थसिद्ध है कि हम उनकी इच्छा से प्रवृत्त होने वाले उनके दास ही हैं। गीता में भी बताया है—'हे अर्जुन! सभी प्राणियों के हृदयदेश में ईश्वर रहता है। जैसे यन्त्र (चक्कर काटने वाला बड़ा झूला)

पर चढ़े लोगों को यान्त्रिक (झूला चलाने वाला) घुमाता है ऐसे ही ईश्वर अपनी माया से सब प्राणियों को घुमाते हुए—संसार चक्र में चलाते हुए—उन्हीं के हृदय में रहता है।' इससे भी पता चलता है कि हम भगवान् के अधीन हैं अतः दास हैं। इस प्रकार मन्त्र से अपनी शिवदासता ख्यापित कर भगवत्प्रीत्यर्थ ही समस्त कार्य करे—यही मंद-मध्यमाधिकारी के लिये श्रेयस्कर है। मंदाधिकारी वह है जो विवेकादि न कर सकने से तत्त्व समझने के अयोग्य है। मध्यमाधिकारी वह है जो कुछ समझ तो लेता है पर रागादि कालुष्यवश साधनमार्ग में प्रगति नहीं कर पाता। दोनों के लिये चित्तशुद्धि अतः भगवत्सेवा आवश्यक है॥९॥

इदानीं नमःशब्दस्य त्यागार्थत्वप्रतिपादनेन पूर्वोक्तमुपासनमत्राप्यनुवदति, अग्रिमश्लोके विशेषार्थस्य वक्ष्यमाणत्वात्। अथवेति। इदमिदं सर्वं परमस्य परमेश्वरस्य आप्तये प्राप्तये, **अनुग्रहार्थमिति यावत्; त्यजामि** पत्रफलादिकं समर्पयामीति। **किमिच्छंस्त्यजसि ? इत्याकाङ्क्षायामाह—अर्थं धर्मं च कामं च वाञ्छंश्च जगदीश्वरम्। अर्थधर्मकामान् इति सगुणोपासनं, जगदीश्वरं परमेश्वरमिति निर्गुणोपासनमिति॥१०॥**

अगले श्लोक में विशेष बात बतानी है अर्थात् व्याख्या की प्रामाणिकता व्यक्त करनी है, इसलिये नमः का त्याग अर्थ बताते हुए पूर्वोक्त उपासना का अनुवाद करते हैं ताकि उपासनापक्ष वाला अर्थ भी प्रामाणिक ही समझा जाये। परमेश्वर की प्राप्ति अर्थात् प्राप्ति के एकमात्र उपाय उनके अनुग्रह के लिये यह जो कुछ भी फूल, फल आदि मुझे प्राप्त है उसका मैं त्याग करता हूँ—यह मंत्रार्थ है। क्या इच्छा करते हुए त्यागते हो ? यह प्रश्न होने पर आचार्य ने सकाम के लिये अर्थ, धर्म और काम—इनकी इच्छा करते हुए त्यागता हूँ—यह उत्तर दिया। इससे सगुणोपासना व्यक्त की। निष्काम के लिये कहा—जगदीश्वर की इच्छा करते हुए त्यागता हूँ। इससे निर्गुणोपासना बतायी। निर्गुण की अहंग्रहादि उपासनाएँ प्रसिद्ध हैं। श्रवणादि भी क्रियात्मक होने से उपासना ही है। इसी से ईश्वरसाधक तर्कविचार को नैयायिकाचार्य ने उपासना ही कहा है। कुछ व्याख्याता 'अर्थं धर्मं च कामं च त्यजामि' ऐसा पूर्वान्वय करते हैं। अर्थात् इन तीन पुमर्थों

को मैं छोड़ता हूँ क्योंकि मैं केवल जगदीश्वर को चाहता हूँ। इस व्याख्या में सगुणोपासना का संग्रह नहीं होगा। सुबोधिनीकार यहाँ सगुणोपासना का अनुवाद चाहते हैं अतः अर्थादि का 'वांछन्' से ही अन्वय किया है॥१०॥

अत्र पूर्वाचार्यसम्मतिं स्वाभिप्रेतार्थं चाह—एतदिति। एतत् सर्वं सगुणोपासनं निर्गुणोपासनं च; वेदतत्परैः मन्त्रार्थज्ञैः कर्मोपासननिष्ठैः कर्म उपासनं च निर्णीतम्; तथा तत्त्वज्ञैः वेदान्ततत्परैः जगदीश्वरोपलक्षितब्रह्मोपासनतत्परैः ब्रह्मोपासनं निर्णीतमिति। अत्राभिप्रेतार्थमाह—यत्तत्त्वगर्भं शास्त्रतात्पर्यार्थगोचरमात्मतत्त्वज्ञानार्थसाधनं मुक्तिलब्धये, तदेव विज्ञेयमिति। तत्र कर्म सगुणोपासनं च क्रमेण मुक्तिसाधनं, ब्रह्मोपासनं च साक्षाद् मुक्तिलब्धय इति विज्ञेयमिति ॥११॥

पूर्वोक्त द्विविध उपासना पूर्वाचार्यों को संमत है, यह बताने के लिये कहा—मन्त्रार्थ और तत्त्व के जानकारों ने यह निर्णीत किया है। यह निर्णीत किया है अर्थात् सगुण व निर्गुण दोनों उपासनाएँ इस मंत्र से बोध्य हैं व शास्त्र से गम्य हैं यह निर्णीत किया है। वेदाक्षरों में तत्पर विद्वान् तो केवल मन्त्रादि का वाच्यार्थ समझ पाते हैं, अतः कर्म और सगुणोपासना में ही उनकी श्रद्धा होती है। फलतः वे स्वयं भी उन्हीं के अनुष्ठान में लगते हैं और वही वेदार्थ है, ऐसा निर्णय देते हैं। वेद का सिद्धान्त जानने में तत्पर आचार्य तो तत्त्व को समझते हैं, वेद के तात्पर्यविषयीभूत अर्थ को जानते हैं। वे निर्गुण ब्रह्म की सर्वविध उपासना में श्रद्धालु होकर स्वयं उसका अनुष्ठान करते हैं और अन्यों के लिये भी उसी का विधान शास्त्र में निर्णीत बताते हैं। यह नहीं समझना चाहिये कि दोनों निर्णयों में परस्पर विरोध है क्योंकि अधिकारिभेद से दोनों ही निर्णय ठीक हैं। वाच्यार्थ और तात्पर्यार्थ में भेद भी अतएव स्वाभाविक है। प्रश्न हो सकता है कि वाच्य ही तात्पर्य क्यों न मान लिया जाये ? प्रायः लोक में वाच्य ही तात्पर्य होता है, अतः प्रश्न स्वाभाविक है। उत्तर है कि प्रमाणभूत वेद ने कर्मोपासन को स्वयं अनित्यफलक कहकर ज्ञान से नित्यमोक्ष बताया है, अतः कर्मादिबोधनमात्र में तात्पर्य संगत नहीं, अवान्तर तात्पर्य भले ही हो। किं च कर्मादि की निंदा भी वेद में होने से उसमें चरम तात्पर्य नहीं है यह

सिद्ध होता है। तब शंका होती है कि तात्पर्य का निर्णय कैसे हो ? इसका उत्तर समझने के पूर्व जानना चाहिये कि तात्पर्य किसे कहते हैं।

जो बात समझाने के लिये वाक्य की उपस्थिति हो उसे उस वाक्य का तात्पर्य कहते हैं। ऐसे ही शास्त्र जिसे समझाने के लिये विद्यमान हो वह शास्त्रतात्पर्य है। कुछ लोग वक्ता की इच्छा को तात्पर्य मानते हैं। किन्तु तात्पर्य दो होते हैं—एक वक्ता का और दूसरा शब्द का (वाक्यादि का)। विवरणाचार्य ने (पृ. ९९६ कल.) अर्थविशेष की प्रमा उत्पन्न करने के लिए होना—यह तात्पर्य का स्वरूप मानकर उसे शब्द की विशेषता कहा है— 'तात्पर्यं नाम तदर्थप्रमितिशेषता शब्दधर्मः'। यों दो तात्पर्य व्यवहार में भी स्पष्ट हैं। कई बार वक्ता तो कुछ कहना चाहता है पर जिन शब्दों का वह प्रयोग करता है उनसे तात्पर्य कुछ और ही निकलता है। जब वक्ता से पूछें तो कहता है 'मेरा मतलब यह नहीं था।' अतः ऐसे स्थल में वक्तृतात्पर्य और शब्दतात्पर्य विभिन्न उपलब्ध होता है। प्रायः मंदप्रज्ञों की यह स्थिति होती है, अतः उनसे उनका तात्पर्य पुनः पुनः पूछना पड़ता है। विद्वान् प्रायः सोच-समझकर ऐसे शब्दों का प्रयोग करते हैं जिनका तात्पर्य वही हो जो वे (वक्ता) बोलना चाहते हैं। अतः उन स्थलों में वक्तृतात्पर्य और शब्दतात्पर्य एक ही हो जाता है। इसलिये वक्ता यदि विद्वान् हो, तो उसके वाक्य का ही लोग विचार करते हैं। तात्पर्य जानने के लिये, उससे पूछने नहीं जाते क्योंकि जानते हैं कि शब्द का जो तात्पर्य निकलेगा वही उस विद्वान् वक्ता का तात्पर्य होगा। अतः शब्दतात्पर्यनिर्णय शाब्दप्रमिति के लिये एक आवश्यक प्रक्रिया है। हरि आदि शाब्दिकों ने तात्पर्यबोध के ये हेतु बताये हैं—

'वाक्यात् प्रकरणाद् अर्थाद् औचित्याद् देशकालतः।
शब्दार्थाः प्रविभज्यन्ते न रूपादेव केवलात्॥
संसर्गो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य संनिधिः॥'

अर्थात् शब्द के स्वरूपमात्र से शब्दार्थ का निर्णय नहीं होता क्योंकि अनेक कारणों से शब्दों के अर्थ बदल जाते हैं। शब्द जिस वाक्य में आया

है उसके अनुसार उसका अर्थ निश्चित होगा। जैसे 'घट नित्य होता है' कहें तो घट शब्द घटत्व में तात्पर्य वाला है और 'घट लाओ' कहें तो कम्बुग्रीवादिमान् पदार्थ में तात्पर्य है। ऐसे ही प्रकरणवश तात्पर्य होता है। मोक्ष शब्द न्यायशास्त्र के प्रसंग में इक्कीस दुःखों के ध्वंस में तात्पर्य वाला होगा तथा वेदान्तशास्त्र के प्रसंग में अविद्यानिवृत्ति-परमानन्द प्राप्ति में तात्पर्य वाला होगा। अर्थ या प्रयोजन से भी शब्दार्थ बदलता है। यदि हम घट शब्द के विषय में कुछ बताने के लिये घट शब्द का प्रयोग करते हैं तो घट शब्द का तात्पर्य घट शब्द में ही होगा, न कि घट पदार्थ में, क्योंकि यहाँ घट शब्द का प्रयोजन घटशब्दबोधन ही है। देश-काल की उचितता से शब्दार्थ बदलता है। युद्ध-स्थल पर 'सैन्धव लाओ' वाक्य कहा जाये तो देश के औचित्यानुसार सैंधव शब्द (सिन्धु से आये) घोड़े का बोध करायेगा जबकि रसोई में कहा वही शब्द नमक का बोध करायेगा। ऐसे ही प्रातःकाल कहें 'संध्या करो' तो पूर्वसंध्या का बोध होगा और शाम को सायंकालिक संध्या का। ऐसे ही संसर्ग अर्थात् निकटता व विप्रयोग अर्थात् दूरी से शब्दार्थ में भेद आता है। जैसे 'लक्ष्मी का पति पार्वती का पुत्र' इस प्रयोग में निकटतावश पतिशब्द लक्ष्मी से जुड़कर विष्णु का बोधक होता है न कि पार्वतीपति शिव का, क्योंकि उससे दूरी है। उत्थिताकांक्षापूरकत्व निकटता समझ लेनी चाहिये। अतः 'लक्ष्मी का' सुनकर हुई आकांक्षा को पूरा कर सकने से पति शब्द 'पार्वती का' सुनने तक रुका नहीं रहेगा, बल्कि विष्णु का बोध करा देगा। साहचर्य अर्थात् निकटस्थ प्रसंगान्तर। विष्णुमाहात्म्य के प्रसंग के निकट नामजप का विधान हो तो विष्णुनाम का बोध होगा जबकि शिवमाहात्म्यप्रसंग के निकट उसी नामजप-शब्द से शिवनाम का बोध होगा। विरोधिता अर्थात विरोध। देवविरोधबोधक असुरशब्द वृत्रादिवाचक होगा जबकि वैराग्यविरोधबोधक वही शब्द प्राणपोषक का कथन करेगा। अर्थ से अर्थापत्ति विवक्षित है। अर्थापत्तिलभ्य अर्थ भी शब्द का बोध्य हो जाता है। प्रसिद्ध ही है कि असत्त्वज्ञापन में समर्थ भी 'नेह नाना' शब्द अर्थापत्तिलभ्य मिथ्यात्व का ही बोधक है। प्रकरण आकांक्षात्मक होता है। 'विद्यामाप्नोति' में आप्नोतिकी आकांक्षानुसार विद्याम् द्वितीयान्त विद्यापद होकर 'विद्या को'—यह अर्थ कहता है जबकि 'देवं

विद्याम्' में देवं की आकांक्षानुसार विद्याम् लिङुत्तमान्त होकर 'जानूँ'—यह अर्थ कहता है। लिंग से शब्दसामर्थ्य समझें तो 'सदनं कृणोमि' 'तस्मिन् सीद' आदि उदाहरण हैं और यदि वक्ता के आवभाव समझें तो भी दृष्टांत प्रत्यक्ष अनुभव में आ जाते हैं। अन्य शब्द की संनिधि से भी शब्दार्थ में भेद आता है। 'देवदत्त की मरम्मत करो' में मरम्मतपद पिटायी का बोधक है जबकि 'गाड़ी की मरम्मत करो' में वही सुधार का बोधक है। इस प्रकार अनेक कारणों का विचार कर शब्द का तात्पर्य समझना पड़ता है।

किन्तु शास्त्रीय विचारकों ने इन हेतुओं को यथावत् न मानकर छह लिंगों का प्रतिपादन किया है जिनसे तात्पर्य निर्णय होता है। वैसे तो पूर्वोक्त हेतु भी उन छह के अंतर्गत समझे जा सकते हैं, पर शास्त्रकारों की दृष्टि में पूर्वोक्त हेतुओं में कुछ पुनरुक्ति है व कुछ लौकिक संबंध है। अतः लौकिक शब्दों के तात्पर्य में इन हेतुओं को सावकाश छोड़कर शास्त्रीय शब्दों के तात्पर्यज्ञान के लिये छह सूचकों का निर्धारण किया है। क्योंकि शास्त्रतात्पर्य औपनिषदों का ही जिज्ञास्य है—सुबोधिनीकार ने भी 'तत्त्वज्ञैर्वेदान्ततत्परैः' कहा है—इसलिए उन्हीं ने इन लिंगों का प्रतिपादन किया है। कर्ममीमांसक तो आपातार्थ से ही संतुष्ट रहते हैं। फिर भी आवश्यकता होने पर वे इन लिंगों का प्रयोग कर लेते हैं किंतु साकल्येन न इनका उन्होंने एकत्र प्रतिपादन किया है और न प्रयोग। आचार्य बादरायण ने इन छह लिंगों का सप्रयोग उपदेश दिया है जिससे भाष्यादिकारों ने इनका संकलन किया है। विवरणाचार्य ने छहों लिंग प्रदर्शित किये हैं व तत्त्वदीपन में (पृ. ९९८ कल.) उन्हें श्लोकबद्ध कर दिया है—

'उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये॥'

सूत्रकार ने इन्हें कैसे बताया है—यह पहले समझ लेना चाहिये :

(१) (*i*) 'प्राणस्तथानुगमात्' (१.१.२८) में हिततम से उपक्रम और अजर-अमृत में उपसंहार से प्राण शब्द को ब्रह्म का बोधक सिद्ध किया है। उसी अधिकरण में (सू.३१) भाष्यकारों ने भी स्पष्ट किया है 'उपक्रमोपसंहाराभ्यां हि वाक्यैकत्वमवगम्यते।'

(*ii*) 'ज्योतिर्दर्शनात्' (१.३.४०) में अपहतपाप्मा से उपक्रम और उत्तम पुरुष में उपसंहार होने से ज्योतिःशब्द परब्रह्म के तात्पर्य वाला निश्चित किया है।

(*iii*) 'त्रयाणामेव चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च' (१.४.६) में भी उपक्रामोपसंहार के पर्यालोचन से ही अग्नि, जीव व परमात्मा से अतिरिक्त में तात्पर्य का निषेध किया गया है।

(*iv*) 'वाक्यान्वयात्' (१.४.१९) में भी अमृतत्वोपायकथन में उपक्रम व ब्रह्म-दर्शनादि में उपसंहार से याज्ञवल्क्योपदेश परमात्मपरक सिद्ध किया गया है। इसी सूत्र की व्याख्या में भाष्यकारों ने अन्य लिंगों का भी प्रदर्शन कर दिया है।

एवं च सूत्रकार ने उपक्रमोपसंहार की एकवाक्यता को तात्पर्य का निर्णायक माना है यह स्पष्ट है।

(२) (*i*) 'आनन्दमयोऽभ्यासात्' (१.१.१२) में मुख्यतः ही अभ्यासवशात् आनन्दमय को परमात्मपरक माना है। वर्णकान्तर में भी 'असन्नेव स भवति' इस निगमनश्लोक में केवल ब्रह्म के अभ्यासवश आनन्दमय आत्मा में स्वप्रधान ब्रह्म का ही उपदेश आचार्यसंमत है।

(*ii*) 'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्' (३.४.१) में भी पुनः पुनः उपदेशरूप अभ्यास से ही साधनावृत्ति के विधान में तात्पर्य निर्धारित है।

इस प्रकार अभ्यास को तात्पर्यबोधक लिंग सूत्रकार ने कहा है।

(३) (*i*) 'कार्याख्यानादपूर्वम्' (३.३.१८) में अपूर्वता के कारण ही अनग्नताकरणसंकल्प के विधान में वाक्य का तात्पर्य बताया है व अपूर्वता न होने से ही आचमन का अनुवाद माना है।

(*ii*) 'विधिर्वा धारणवत्' (३.४.२०) में अपूर्व होने से ही आश्रमान्तर की विधि को स्वीकारा है और कर्मकाण्ड का उदाहरण भी अपूर्वता की तात्पर्यनिर्णायकता के लिये दिया है। जैमिनि ने (३.४ अधि. ५) में अपूर्वतावश धारण की विधि स्वीकारी है चाहे उसके लिये विधिघातकत्वेन स्वीकृत हि-शब्द की उपेक्षा करनी पड़े। माधवाचार्य ने न्यायमाला में कहा है

'ऊर्ध्वं विधारणं प्राप्तं समिधो नान्यमानतः।
अतो हिशब्दसन्त्यागाद् अपूर्वार्थो विधीयते॥'

(*iii*) 'स्तुतिमात्रमुपादानादिति चेद् नापूर्वत्वात्' (३.४.२१) में भी अपूर्वता के कारण छांदोग्यवाक्यों को उद्गीथस्तुतिपरक न मानकर उपासनाविधि में ही तात्पर्य वाला कहा है।

(*iv*) 'सहकार्यन्तरविधिः पक्षेण तृतीयं तद्वतो विध्यादिवत्' (३.४.४७) में भी अपूर्वता ही वह लिंग है जिससे विद्यासहकारी मौन की—संन्यास की—विधि में 'अथ मुनिः' (पृ. ३.५.१) का तात्पर्य स्थापित किया है। दृष्टान्त में भी दर्शपूर्णमास आदि की प्रधान विधि में अंगसमूह का भी विधान इसी से है कि अंगविधि अपूर्व है।

अतः अपूर्वता तात्पर्यलिंग सूत्रसिद्ध है।

(४) (*i*) 'आध्यानाय प्रयोजनाभावात्' (३.३.१४) में इन्द्रिय, अर्थ आदि प्रत्येक की परता में इसीलिये तात्पर्य नहीं है क्योंकि उससे कोई फल-प्रयोजन नहीं सिद्ध होता और पुरुष की परता में तात्पर्य इसीलिये है कि उसे इन्द्रियादि से परे समझ लेने पर मोक्षरूप फल सिद्ध होता है।

(*ii*) 'पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति बादरायणः' (३.४.१) में पुरुषार्थहेतुता से ही वेदान्त की स्वप्रतिपाद्यपरकता सिद्ध की गयी है।

(*iii*) 'आदित्यादिमतयश्चाङ्ग उपपत्तेः' (४.१.६) में कर्मसमृद्धिरूप फलवश ही उद्गीथ आदि अंगों में आदित्यादि दृष्टि के विधान में तात्पर्य निर्धारित है।

सृष्ट्यादि प्रपंच के प्रतिपादन में शास्त्रतात्पर्य नहीं है यह भी फलाभाव से ही आचार्यों ने निश्चित किया है 'न ह्ययं सृष्ट्यादिप्रपञ्चः प्रतिपिपादयिषितः, न हि तत्प्रतिबद्धः कश्चित् पुरुषार्थो दृश्यते श्रूयते वा।' (सूत्रभा १.४.१४)।

(५) (*i*) 'रूपोपन्यासाच्च' (१.२.२३) में द्युमूर्धत्वादि अर्थवाद के बल पर अक्षरशब्द का तात्पर्य परमेश्वर में है यह स्थापित है।

(*ii*) 'आमनन्ति चैनमस्मिन्' (१.२.३२) में मूर्ध-चुबुक के अंतराल में स्थिति बताना रूप अर्थवाद से परमेश्वरविषयक प्रादेशमात्र-श्रुति को उपपन्न किया है।

(*iii*) 'आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात्' (३.३.१६) में लोकसृष्टिरूप अर्थवाद से ऐतरेयक के आदिवाक्य में आत्मा-शब्द परमेश्वरपरक माना है।

(*iv*) 'आदरादलोपः' (३.३.४०) में अतिथिभोजन की पूर्वता की निंदारूप अर्थवाद को इसमें लिंग बताया है कि प्राणाग्निहोत्र का लोप नहीं होना चाहिये यह छांदोग्य (५.१९.१) का तात्पर्य है कि भोजन-उपस्थिति होने पर सर्वप्रथम प्राणाग्निहोत्र करे। भोजन ही न हो तब तो लोप होगा ही।

(v) 'तथा चैकवाक्यतोपबन्धात्' (३.४.२४) में वेदान्तपठित आख्यानरूप अर्थवादों से संनिहित विद्या का उपोद्बलन स्वीकारा है। इसी न्याय से आचार्यों ने आख्यानों से सत्संगादि की कर्तव्यता का भाष्यादि में प्रतिपादन भी किया है।

इस प्रकार अर्थवाद भी तात्पर्यग्रहण में उपयोगी हुआ करता है यह बादरायण महर्षि ने अनेकत्र व्यक्त कर दिया है।

(६) (i) 'अत्ता चराचरग्रहणात्' (१.२.९) में चर-अचर का कात्स्न्र्येन अत्ता, और वह भी मृत्यु-उपसेचन सहित, परमात्मा ही है यह निर्णय इसी आधार पर है कि श्रुति ने स्थावर-जंगम का अत्ता बताना रूप उपपत्ति दी है। इससे अगले अधिकरण में भी गुहाहितत्वरूप उपपत्ति से ही विज्ञान-परमात्मपरक ही कठवल्ली को सिद्ध किया है।

(ii) 'अन्तर उपपत्तेः' (१.२.१३) में मुखतः ही उपपत्तिवश अक्षि के अभ्यंतर परम-पुरुष का उपदेश स्वीकृत है। अमृत, अभय, दोषों से अलिप्तता आदि श्रौत उपपत्ति ही चाक्षुष पुरुष को परमात्मा सिद्ध करती है।

(iii) 'दहर उत्तरेभ्यः' (१.३.१४) में अनन्तर श्रुति में प्रदर्शित उपपत्तिरूप हेतुओं से ही दहराकाश का तात्पर्य परमेश्वर से है यह सूत्रित किया गया है।

(iv) 'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्' (१.४.२३) में श्रुतिप्रोक्त एक विज्ञान से सर्वविज्ञानरूप प्रतिज्ञा और मृत्पिण्डविज्ञान से मृन्मयविज्ञानादि दृष्टान्त के बल पर—अर्थात् श्रुतिकथित उपपत्ति के आधार पर—परमेश्वर को उपादान कारण स्वीकार किया गया है।

(v) 'अनुकृतेस्तस्य च' (१.३.२२) में अनुभानरूप उपपत्तिप्रदर्शन से ही प्राज्ञ आत्मा को सर्वभासक निश्चित किया है।

(vi) 'असम्भवस्तु सतोऽनुपपत्तेः' (२.३.९) में 'कथमसतः सज्जायेत' (छा. ८.७.१) आदि उपपत्तिवश सत् की अनुत्पत्ति का सिद्धांत बनाया गया है।

(vii) 'तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात् सः' (२.३.१३) में शास्त्रीय उपपत्तियों के आधार पर ही निश्चित किया है कि परमेश्वर ही तत्तत् कार्यरूप में अवस्थित हो ईक्षणपूर्वक तत्तद् विकार उत्पन्न करता है।

अतः उपपत्ति भी परमर्षि-प्रदर्शित तात्पर्यग्राहक चिह्न है। एवं च वेदान्तसम्प्रदाय में प्रचलित षड् लिङ्ग शास्त्रोक्त ही सिद्ध होते हैं, स्वमनीषा-परिकल्पित नहीं हैं। इस विषय पर विशेष प्रकाश समन्वयसूत्र के ब्रह्मविद्याभरण से पड़ता है अतः वहाँ अनुसंधान करना चाहिये। यों लिंगों को प्रामाणिक समझ चुक कर इनके स्वरूप से भी परिचय पा लेना उचित है।

(१) उपक्रम व उपसंहार की एकवाक्यता प्रथम लिंग है। जो बताते हुए उपदेश प्रारंभ हो व जिसे बताते हुए समाप्त हो उनकी एकता होने पर वही वस्तु उपदेश का तात्पर्य स्थापित होती है। वाचस्पति ने कहा है 'येन हि वाक्यमुपक्रम्यते येन चोपसंह्रियते तदेव वाक्यार्थः' (१.१.४)। अतः विवरणाचार्य भी लिखते हैं 'तच्च तात्पर्यं यस्मिन्नर्थे वाक्यस्य उपक्रमोपसंहारैकरूप्यम्' (पृ. ९९६ कल.)। इसीलिये तत्त्वानुसन्धाननामक प्रकरण ग्रंथ में बतलाया है 'प्रकरणप्रतिपाद्यस्य अद्वितीयवस्तुनः आद्यन्तयोः प्रतिपादनम् उपक्रमोपसंहारौ'। यहाँ 'प्रतिपाद्यस्य' का अर्थ है जो वस्तुतः प्रतिपाद्य हो, न कि वह जो प्रतिपाद्यत्वेन ज्ञात हो, अन्यथा आत्माश्रयादि की आपत्ति होगी। उपक्रम कहते हैं आरंभ को। अतः प्रश्न होता है काहे का आरंभ उपक्रम है ? उत्तर है—प्रतिपादन

का आरंभ ही उपक्रम है व प्रतिपादन का समापन ही उपसंहार है। अतः भूमिका, ऐतिह्य, परंपरा, फलश्रुति, सम्प्रदायविधि आदि को छोड़कर ही उपक्रमादि खोजा जा सकता है। इनमें भी उपक्रम ही बलवान् होता है। भाष्यकार ने ही कह दिया है 'उपक्रमतन्त्रत्वाद् उपसंहारस्य' (ब्र.सू.भा. ३.३.१७)। अप्पय दीक्षित ने इस विषय में एक स्वतंत्र ग्रंथ ही रचा है—उपक्रम पराक्रम। कुछ नास्तिकप्राय द्वैती विवादी उपसंहार का प्राबल्य है ऐसा प्रलाप करते हैं, पर उनका तिलशः खण्डन दीक्षित, मधुसूदनस्वामी आदि ने कर दिया है।

(२) अनन्यशेष पुनर्वचन को अभ्यास कहते हैं। विवरण में कहा है 'यस्य चार्थस्य पुनः पुनरभ्यासः'। इसे कर्मभेद में पूर्वमीमांसक प्रमाण मानते हैं (जै.सू.२.२.२)। कर्मप्रधानकाण्ड में वह संगत है। वस्तुप्रधान काण्ड में तो पुनः प्रतिपादन वस्तुदार्ढ्यपरक हुआ करता है। निरुक्तादि में कहा है 'अभ्यासे हि भूयस्त्वमर्थस्य भवति यथा अहो दर्शनीया! अहो दर्शनीया! इति।' दर्शनीया पद के अभ्यास से यही मालूम पड़ता है कि वही वस्तु अत्यधिक दर्शनीय है। अतः अभ्यास पुनरुक्ति रूप दोष नहीं है। निष्फल होने पर ही पुनरुक्ति दोष होती है न कि विशेष समर्पक होने पर। प्रतिपाद्यतासमर्पणरूप विशेष फल वाली होने से यह पुनरुक्ति दोष नहीं। अभ्यास में उपक्रमोपसंहार को छोड़ देना चाहिये। उपक्रमादि से अवगत विषय का अभ्यास है या नहीं—यह देखना है न कि जिसका अभ्यास है उसमें उपक्रम ढूँढना है। कारण सीधा है कि उपक्रम बलवत्तर है। यह बात अवश्य है कि प्रकृत छहों लिंगों में प्रत्येक भी तात्पर्यनिर्णायक है जैसा कि पूर्वप्रदर्शित ब्रह्मसूत्रों से स्पष्ट है या तंत्रवार्तिक में (पृ. १०५ आ.आ.) कुमारिल भट्ट द्वारा प्रयुक्त लिंगद्वय से तात्पर्य-निर्णय के प्रयास से व्यक्त है।

(३) प्रकृत वाक्यार्थ को प्रकृत वाक्य से अतिरिक्त ज्ञापक से जानना दुर्लभ होना अपूर्वता समझनी चाहिये। सूत्रभाष्य में कहा है 'क

इत्था वेद यत्र स इति दुर्विज्ञानत्वं परमात्मलिङ्गम्' (१.२.१०)। विवरण में भी 'अपूर्वार्थप्रमेयता च' कहा है। प्रमा की अनधिगतविषयकता की इससे सुरक्षा होती है। तत्त्वानुसंधान ने इसे ही मानान्तराविषयता कहा है। मानान्तर से स्वविजातीयमान समझना चाहिये। अतः शाखान्तर से अवगत में शाखान्तर का तात्पर्य होने में कोई विरोध न होगा।

(४) प्रतिपाद्य की सफलता ही फलनामक लिंग है। 'यस्मिन्नर्थे फलविशेषसङ्कीर्तनम्' ऐसा प्रकाशात्मा महाराज ने बताया है। प्रकृत वाक्यार्थज्ञान को फलवान् होना चाहिये। इसे ही प्रयोजनवत्ता कहा जाता है। वस्तुतः यह प्रमुख लिंग है क्योंकि हितोपदेष्टा शास्त्र के उपदेश की सफलता निश्चित है। आधुनिक लोग भी सफल ज्ञान को सत्य ही मानते हैं। यहाँ इतना अंतर जानना चाहिये कि कहीं तो तात्पर्यविषयभूत वस्तु स्वयं फल होती है और कहीं वह फल वाली होती है। जहाँ तो साध्य में तात्पर्य होता है वहाँ फल ही तात्पर्यविषय होगा। जहाँ साधन में तात्पर्य होगा वहाँ तात्पर्यविषय फल वाला होगा। हर हालत में शास्त्रवाक्य ऐसे ज्ञान को उत्पन्न करता है जिसका साक्षात् या परंपरा से फल होता है। अतः यदि वाक्यार्थ निष्फल हो, तो समझ लेना चाहिए कि वह अर्थ उस वाक्य का तात्पर्य नहीं है।

(५) अन्यशेषतया उक्त व स्वार्थ में तात्पर्यरहित वाक्य अर्थवाद होता है। 'यत्र चार्थवादोपादानम्'— इस विवरण से यह भी तात्पर्यग्राहक हुआ करता है। अन्यशेष होकर सफल होने से ही स्वार्थ में तात्पर्यरहित वाक्यों का प्रामाण्य सुरक्षित होता है यही अर्थवादपाद में जैमिनि का हृदय है। अतएव लघुवासुदेवमननम् नामक प्रकरण में (पृ. ४२३ वेदांतसंदर्भ) (*i*) सृष्टि, (*ii*) स्थिति, (*iii*) प्रलय, (*iv*) प्रवेश, (*v*) संयमन, (*vi*) तत्पदार्थ व त्वम्पदार्थ का परिशोधन और (*vii*) फल—इनके प्रतिपादक वाक्य सात प्रकार के अर्थवादों में गिने हैं। विवरणकार ने भी प्रवेश और 'येनाश्रुतं श्रुतम्' इत्यादि

को ब्रह्म में अर्थवाद प्रदर्शित किया है। अर्थवाद का स्वार्थ में तात्पर्य नहीं पर जिसमें तात्पर्य है वही प्रकरणतात्पर्य हुआ करता है। यद्यपि भूतार्थवाद का अवांतरतात्पर्य स्वार्थ में भी होता है तथापि अन्य में उसका तात्पर्य होता ही है इसी से वह अर्थवाद है, और वही 'अन्य' प्रकरणतात्पर्य होता है। 'अन्यशेषतया उक्त' यह अर्थवादलक्षण बनाने से आत्मवाक्य अर्थवाद नहीं रह जाते यह स्मरण रखना चाहिए।

(६) युक्ति, दृष्टान्त, निर्वचन आदि उपायों से प्रतिपादन उपपत्ति कही जाती है। विवरण में (पृ. ९९७-९९८) प्रदर्शित उपपत्ति का यही स्वरूप है। सृष्टि आदि कथन को उपपत्ति में भी ग्रहण किया जाता है। विवक्षाभेद से सृष्टि आदि को अर्थवाद व उपपत्ति दोनों में समझा जा सकता है। क्योंकि प्रपंचसृष्टि परमात्मा से हुई इसलिये प्रपंच परमात्मा से भिन्न नहीं—इस विवक्षा से सृष्टिकथन उपपत्ति हो जायेगा। परमात्मा का जगत्कारणरूप से जब केवल परिचय कराया जाता है तब वही सृष्टिकथन अर्थवाद है। सिद्धवस्तु में मानान्तर-विरोध की प्राप्ति होने से तर्कादि प्रदर्शन सार्थक है, हालाँकि शास्त्र तर्क सापेक्षप्रामाण्य वाला नहीं है। वस्तुतस्तु समझाने का प्रकारविशेष ही उपपत्ति है अतः शब्द की इतिकर्तव्यता रूप से ही इसका उपयोग होने से सापेक्षत्व की शंका का प्रसंग ही नहीं है।

इन लिंगों में कुछ विशेषता अद्वैतसिद्धि में (पृ. ४२५) व्यक्त की है। अपूर्वता, सोपपत्तिकता और प्रयोजनवत्ता—ये तीन प्रामाण्यशरीरघटक लिंग अर्थनिष्ठ होते हैं। उपक्रमोपसंहार की एकरूपता, अभ्यास और अर्थवाद—ये तीन लिंग शब्दनिष्ठ होते हैं। इस प्रकार तात्पर्यनिर्णय के लिये न केवल वाक्य वरन् अर्थ का भी परीक्षण अनिवार्य हो जाता है। क्योंकि अर्थ का निश्चय तात्पर्यज्ञानाधीन है इसलिये शब्दनिष्ठ लिंग ही प्राथमिकरूप से प्रधान है। उनसे तात्पर्यज्ञान हो चुकने पर वह तात्पर्यविषय अपूर्वादि है या नहीं इस विचार का अवसर आता है। ऐसा न करें तो क्योंकि अपूर्वता

आदि वाले तो बहुतेरे विषय होते हैं, इसलिये अमुक ही तात्पर्यविषय है यह निश्चय असंभव ही होगा। अर्थनिष्ठ लिंगत्रय तो शब्दनिष्ठ लिंगों से निर्णीत अर्थ सही है या नहीं इसके परीक्षक होते हैं। यदि शब्दनिष्ठ लिंगों से निर्णीत अर्थ अपूर्णता आदि वाला नहीं है तो वाक्य ही पुनः परीक्षणीय हो जाता है।

एक प्रश्न वहीं लघुचंद्रिका में उठाकर समाहित किया गया है : अभ्यास से भी प्राशस्त्य-बोध बताया है, जैसे अहो दर्शनीया! अहो दर्शनीया से दर्शनीयता का प्राशस्त्य मालूम पड़ता है। अर्थवाद भी प्राशस्त्य-बोधक प्रसिद्ध ही है। तब इनमें भेद क्या है ? उत्तर है कि अर्थवाद से बताया प्राशस्त्य बलवद्-अनिष्ट-अजनकत्वरूप होता है और अभ्यास से बताया प्राशस्त्य अर्थान्तर से उत्कृष्टत्वरूप होता है। इसी भेद से इन दो लिंगों की सार्थकता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि तात्पर्य-निर्णय मीमांसासाध्य है। ऐसी मीमांसा कर ही वेदान्ततत्पर तत्त्वज्ञों ने 'नमःशिवाय' ब्रह्मोपासना में तात्पर्य वाला माना है। जो तत्त्वगर्भ है वही मुक्तिप्राप्ति के लिये विज्ञेय है। तत्त्वगर्भ अर्थात् तत्त्वज्ञान का साधन। क्योंकि उससे तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है। इसलिये उसे तत्त्वज्ञानगर्भ कहते हैं और शाकपार्थिव समास से तत्त्वगर्भ कहते हैं। वह साधन भी शास्त्र का तात्पर्यविषय है। प्रमुख तात्पर्य न होने पर भी अवांतरतात्पर्य है। मधुसूदरनस्वामी ने बताया है 'महातात्पर्यविषयसिद्ध्युपाये हि अवांतरतात्पर्यमिति सर्वमतसिद्धम्' (अ.सि.पृ. ६९३)। अतः उसी प्रसंग का महातात्पर्य रहते हुए साधन में अवांतर तात्पर्य हो जाता है। सहकार्यन्तराधिकरण के (३.४. सूत्र ४७) भाष्य में कहा है 'अविधिप्रधानेऽप्यस्मिन् विद्यावाक्ये मौनविधिः'। अतः साधन भी शास्त्रसिद्ध हैं। कर्म और सगुण-उपासना क्रम से अर्थात् चित्तशुद्धि आदि व्यवधान से मुक्ति का साधन है और निर्गुण ब्रह्म की उपासना साक्षाद् मुक्ति का साधन है। कामुक मुमुक्षु के लिये प्रथम और विरक्त मुमुक्षु के लिये द्वितीय का अनुष्ठान मन्त्रराज विहित कर रहा है। इस श्लोक में पद्मपादाचार्य ने स्पष्ट किया कि श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठों के निर्णय का अनुसरण ही मोक्ष दे

सकेगा, चाहे जिस पर श्रद्धा करने से अन्य चाहे जो फल हो या न हो, मोक्ष तो नहीं होगा ॥११॥

अथ पुनरुत्तमाधिकारिणं प्रत्याह—अथवेति। प्रज्ञावतां किं क्रममुक्तिप्रदेन उपासनेन ? मुक्तिलाभार्थं विवेकतो विवेचनपूर्वकम् आत्मतत्त्वं ध्येयं विज्ञेयमित्यर्थः। विज्ञानप्रकारमाह—हृदा विवेकवत्या बुद्ध्या, मन्त्रेण 'सपर्यगाच्छुक्रम्' (ई.८) इत्यादिना 'तत्त्वमस्या'दिमहावाक्येन च जगद्गुरुम् ईशं देवं जगत्कर्तृत्वसर्वज्ञत्वाद्यध्यस्ताद् ईशोपाधितः अन्तःकरणाद्यध्यस्तजीवोपाधितश्च भिन्नं तन्निषेधाधिष्ठानमसंगं रजतादिविवर्ताधिष्ठानमिव शुक्त्यादिकं यथार्थतया ज्ञात्त्वा यत् तदनारोपितं स्वरूपं परं तत्त्वं तदेव ध्येयं ब्रह्माहमस्मीत्यनुसन्धेयमित्यर्थः। इति चतुर्थं व्याख्यानम्॥१२॥

अब उत्तमाधिकारी के लिये आचार्य कह रहे हैं कि शिवतत्त्व को औपाधिकरूप से मन्त्रविचार और विवेक द्वारा पृथक् समझकर मुक्ति की प्राप्ति के लिये उसी तत्त्व का निरंतर भान बनाये रखना चाहिये—यह मंत्रराज का उपदेश है। जो विवेक में कुशल है वह क्रममोक्षफलक उपासना में क्यों लगेगा ? वह तो श्रेष्ठफलक ज्ञान ही प्राप्त करने का प्रयास करेगा। इस प्रयास में विवेक की मुख्यता है। विवेचन अर्थात् पृथक्करण करके ही आत्मतत्त्व का विज्ञान किया जा सकता है। इसलिये सामान्य बुद्धि नहीं, विवेकसामर्थ्य वाली बुद्धि की यहाँ आवश्यकता है। श्वेताश्वतर ने (३.१३) भी 'हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तः' इस प्रकार हार्द ब्रह्म के अनुभव के योग्य अंतःकरण को हृद् शब्द से कहा है। विवेक को सहारा चाहिये, दिशा चाहिये; किससे किसे अलग करना है यह सामान्य ज्ञान चाहिये और अलग करने के उपाय का विशेष ज्ञान चाहिये। अतः आचार्य ने 'मन्त्रेण' कहा। मन्त्र अर्थात् श्रुति ही वह सहारा है जो दोनों ज्ञान देती है। परमेश्वर को व्यापक, स्वप्रकाश, शुद्ध आदि बताने वाली श्रुतियाँ, जीव को भी अवस्थादिसाक्षी बताने वाली श्रुतियाँ एवं इनके भेद का निषेध करने वाली श्रुतियाँ इस साधना में अपेक्षित हैं। अथवा मन्त्र से प्रकृत पंचाक्षर समझ

सकते हैं। पूर्वोक्त व्याख्याओं के सहारे नमःशब्द से दासादिरूप जीव का बोध होता है, शिवशब्द से परमेश्वर का बोध होता है, 'शिवाय' में भावप्रधाननिर्देश से 'शिवत्वाय' समझ कर शिवत्वयोग्य अर्थात् शुद्ध त्वमर्थ का बोध अतएव शुद्ध तदर्थ का बोध होता है और नमः से ही भेदाभिमानत्यागरूप उपाय का बोध होता है। इस प्रकार 'नमः शिवाय' मंत्र से ही विवेकपूर्वक अध्यात्माधिगम संभव है। ईश्वर को ईश्वरत्वप्रयोजक उपाधि से और जीव को जीवत्वप्रयोजक उपाधि से भिन्न जानना आवश्यक है यह जानने के लिये कि दोनों का अत्यंत भेद है। वे उपाधियाँ कल्पित हैं अतएव पार्थक्यबोध शक्य है। भिन्न जानने का भी मतलब है जीव-ईश्वर के शुद्ध स्वरूप में उन उपाधियों के अत्यंताभाव को समझना। उपाधिनिषेधरूप इस समझ का विषय असंग परमशिव ही होगा। भूतल पर जब घट का निषेध करते हैं तब विषय भूतल ही होगा। पुरोवर्ती के बारे में जब 'यह रजत नहीं है' ऐसा निषेध किया जाता है तब उस निषेध का विषय सींप होती है। उस निषेध-विषय आत्मा को सही-सही जानकर जो उसका अकल्पित निज परम रूप है, उसकी वास्तविकता है, उसी का ध्यान करना चाहिए अर्थात् 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा अनुसंधान करना चाहिये। पूर्वमुद्रित सुबोधिनीपाठ 'अनुसन्ध्येयम्' है। अर्थ तो अनुसंधान ही करना होगा अतः यहाँ 'अनुसन्धेयम्' पाठ बना दिया है।

इस प्रकार इस चौथी व्याख्या में शिवशब्द से सगुण व निर्गुण दोनों का बोध बताया, चतुर्थी विभक्ति से प्रत्यक्चेतन व परचेतन का अभेद बताया, नमःशब्द से जीव की दासता बतायी एवं साधनरूप से त्याग, ध्यान व विवेकादि बताये तथा मन्त्रोपासक की सिद्धावस्था का 'शिव मैं हूँ' इत्यादि वर्णन किया ॥१२॥

शिवपञ्चाक्षरीभाष्य

नमेरचि नमः प्रोक्तो जन्ता स्याज्जगदीश्वरे।
तस्माद् दासोऽहमित्येवं मत्त्वा मां प्रापयात्मनि ॥१३॥

मन्त्रराजप्रकाश

('नम्' में 'अच्' जोड़ने से बने) नमः शब्द का अर्थ नमस्कार करने वाला साधक है। जगदीश्वर को जन्ता अर्थात् सर्वभक्षक कहा गया है।

सर्वसंहर्ता होने से शिव ही जन्ता हैं। अतः उनका भक्ष्य या भोग्य होने से उनका दास हूँ। ऐसा मानकर मुझे आत्मा में पहुँचा दें अर्थात् आत्मस्थिति प्रदान करें। अधिष्ठान होने से ही वे सर्वसंहारक हैं। अधिष्ठानज्ञान से अध्यस्तज्ञान की निवृत्ति सर्वत्र प्रसिद्ध है। आप मेरे जीवभाव का संहार करें। शिव! मैं नमः हूँ, अतः दास जानकर परमात्म-प्राप्ति करावें। जगदीश्वर के होने पर ही उनकी कृपा से ही जीव भोक्ता होता है। उनकी कृपा से ही आत्मस्थिति होती है। अतः आपके दासभाव को स्वीकार कर प्रणाम करने वाले मुझे आप भोग व मोक्ष प्रदान करें, यह भाव है॥१३॥

सुबोधिनी

अथ पञ्चमं व्याख्यानम्।

नमेरिति। नमस्कारार्थस्य नमधातोः 'पचादेरच्' (पाणि० ३.१.१३४) इति अच्प्रत्यये नमतीति नमः प्रणामकर्ता उपासकः प्रोक्तः। तथा जन्ता इति जमु अदने (भ्वा.प.से), अस्य धातोः तृच्प्रत्ययान्तः जमतीति जन्ता सर्वस्यात्ता उपसंहर्तेति जगदीश्वरे शिवे प्रयोगः स्यात्। कस्माच्छिव एव जन्तेतिशब्दवाच्यः ? इत्याकाङ्क्षायाम्; शिवशब्दस्यापि तदर्थकत्वादिति 'इणशीभ्यां वन्' (उण.१.१५२) उपधाया इत्वं, शेतेऽस्मिन् सर्वमिति शिवःशम्भुः, सोऽपि सर्वसंहर्तेति भावः। तस्य सम्बोधने हे शिव ! उपसंहर्तः! अहं नमः नमनकर्ता तव दासोऽहम्। 'यो यच्छ्रद्धः स एव सः' (गी.१७.३) इत्येवं मां मत्त्वा ज्ञात्वा आत्मनि अय प्रापय, आत्मस्वरूपज्ञानप्रदानेन आत्मस्वरूपं मां कुर्वित्यर्थः॥१३॥

अब पाँचवें ढंग से मन्त्र को समझाते हैं। इसमें 'शिव' 'अय' यह पदच्छेद है और 'शिव! नमः अय' यह अन्वय है। शिवशब्द सर्वसंहारक का बोधक है। शीङ् स्वप्ने (अ.आ.से.) धातु से औणादिक वन्-प्रत्यय होता है और निपातन से (उणा १.१५३) से ही शकारोत्तरवर्ती ईकार की ह्रस्वता होती है। इस प्रकार सारा प्रपंच जिसमें सोता या विलीन होता है वही शंभु शिवशब्द के वाच्य हैं। इस अर्थ के लिये आचार्य ने 'जन्ता' शब्द का प्रयोग किया जिसका अर्थ है जीमने वाला, खा जाने वाला। कठोपनिषत् (१.२.२४) मृत्युरूप उपस्कर युक्त ब्राह्मण-क्षत्रियोपलक्षित सारे जगत् को

परमशिव के लिये ओदनस्थानीय, भोजनस्थानीय बताती ही है। भूतोत्पादक अन्न को भूतभक्षक तैत्तिरीय में भी कहा है 'अत्ति च भूतानि' (२.२)। बृहदारण्यक का भी कहना है कि सब खा जाने से ही वह अदिति है 'सर्वं वा अत्तीति तददितेरदितित्वम्' (१.२.५)। प्रलयाधिकरण रूप अधिष्ठान को शिवशब्द से सम्बोधित कर साधक स्वयं को 'नमः' बता रहा है। नम् धातु (भ्वा.प.अ.) से कर्ता अर्थ में अच्-प्रत्यय हो नम- शब्द बनता है जिसका अर्थ है नमस्कार करने वाला। अतः 'नमः' से उपासक कहा गया है। उसके नमन से ही उसकी दासता व्यक्त है। वह प्रार्थना कर रहा है 'मुझे आत्मा प्राप्त कराइये।' आत्मा की प्राप्ति ज्ञानरूप ही होती है, अतः ज्ञानलाभ की प्राप्ति की प्रार्थना है।

इस प्रकार पाँचवें व्याख्यान में संहारकर्ता से दासभाव की समाप्तिरूप स्वरूपलाभ की प्रार्थना है। पूर्वव्याख्या में शिव को शक्तियुक्त बताया था (श्लो. ६)। यदि वह अध्यारोप समझा जाये तो इसे अपवाद की दृष्टि से संयोजित कर लेना चाहिये॥१३॥

शिवपञ्चाक्षरीभाष्य

अस्मिञ्छेते जगत्सर्वं तन्मयं शब्दगामि यत्।
तद्वानाच्छिव इत्युक्तं कारणं ब्रह्म तत्पराः॥१४॥
न मा यस्यास्ति लक्ष्मीश! सोऽहं देवो न संशयः।
तस्माद् मे प्रापयैहैव लक्ष्मीं विद्यां सनातनीम् ॥१५॥
यस्मादानन्दरूपस्त्वं देवैर्वेदैर्निगद्यसे।
तस्माद् मे देहि योगीश! भद्रं ज्ञानं सुभावनम्॥१६॥

मन्त्रराजप्रकाश

जो शब्दद्वारा जाना जाता है वह सम्पूर्ण जगत् शब्द का ही विकार है। 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्' (छां. ६.१.४) 'तस्योपव्याख्यानम्' (मां. १) आदि वेद इसमें प्रमाण है। वह सारा जगत् शिव में सोता है अर्थात् शिव ही उसके अधिष्ठान हैं। इसलिये वे वननीय या सम्भजनीय हैं। अथवा सारा नामरूपात्मक प्रपंच प्रकृति में सोता है एवं उसको वनन या व्यक्त

करने से वे शिव कहे गये हैं। (शेतेऽस्मिन्निति शिः माया, शिं वनयतीति शिवः)। शिव इस प्रकार अभिन्न निमित्तोपादान कारण हैं। 'तत्पराः' हे शिवपरायण लोगो! आप ऐसा निश्चय करें॥१४॥

लक्ष्मी सनातन विद्या अर्थात् वेदविद्या का नाम है। लक्ष्मीपति! जिसे यह लक्ष्मी प्राप्त नहीं है वह जीवरूप देव अर्थात् स्वयम्प्रकाश आत्मा मैं हूँ। अर्थात् मैं अज्ञानी जीवभाव में स्थित आत्मा हूँ। इसमें स्वानुभूति का प्रमाण होने से संशय नहीं है, अर्थात् वेद व युक्ति से असिद्ध होने पर भी सत्य है। मुझे इस शरीर में रहते हुए ही उस अवस्था से विद्या अवस्था को प्राप्त करावें। तात्पर्य है कि हे शिव! नमः (न मा [विद्या] वाले को) रूप मुझे शिवभाव प्राप्त करावें॥१५॥

चूँकि आप ब्रह्मा, विष्णु आदि देवताओं द्वारा एवं वेदों द्वारा शिव अर्थात् आनन्दरूप कहे गये हैं अतः हे योगीश्वर! आप मुझे, जो अज्ञान के कारण निरानन्द हूँ (नमः), उत्तम भाव वाला कल्याणकारी ज्ञान अर्थात् आत्मज्ञान दें। 'नमः' को शिव के प्रति ले जावें॥१६॥

सुबोधिनी

अथ षष्ठं व्याख्यानम्

आह—अस्मिन्निति। सर्वं जगच्छेते प्रलयकाले लयं प्राप्नोति अस्मिन्निति शि-शब्दोपपादितम् अव्यक्तं प्रकृतिरित्यर्थः। तथा यच्छब्दगामि वाग्विषयं नामरूपात्मकं प्रपञ्चजातं स्थितिकालेऽवभासते देहेन्द्रियादिकं भूस्वर्गादिकं च तत् तन्मयं प्रकृतिमयं प्रकृतेरेव परिणाम इत्यर्थः। तथा श्रुतिः 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' (छा. ६.१.४) इति। तद्वानात् तस्य अव्यक्तस्य वानाद् वननाद्, भावे घञ्, तं शिम् अव्यक्तं प्रकृतिं वनयति भाजयति नामरूपाभ्यां व्याकरोति, आकाशादिविभागं प्रापयति इति शिवः—डप्रत्ययान्तः—कारणं ब्रह्म शिवशब्देनोच्यते। हे तत्पराः। ब्रह्मतत्परा इत्यर्थः। अथवा 'वा गतिगन्धनयोः' (अ.प.अ.) इत्यस्य धातोः वानशब्दः, तद्वानात् तस्य अव्यक्तस्य स्वस्मिन्नव्यक्तरूपेण अवस्थितस्य वानात् सूचनाद् नामरूपाभ्यां व्याकरणादित्यर्थः॥१४॥

अब छठे प्रकार से मंत्रराज की व्याख्या कर रहे हैं : यहाँ भी 'शिव' 'अय' यह छेद है। शिवशब्द इस व्याख्या में 'शि' और 'व' इन दो अवयवों से निष्पन्न है। प्रलयकाल में सारा जगत् जिसमें लीन होता है उसे 'शि' शब्द से कहा गया है। 'शिःशिवे शिवकान्तायां स्वापे निर्वाणहिंसयोः' ऐसा राघव-विरचित एकाक्षरकाण्ड में कहा है। परिणामी कारण में ही कार्य लीन अर्थात् सूक्ष्मावस्था में रहता है। अतः शि-शब्द अव्यक्त या प्रकृति का वाचक है। शब्द का विषयभूत नामरूपात्मक देहादि व पृथ्व्यादि सारा प्रपंच जो स्थितिकाल में ज्ञात होता है, वह सब प्रकृति का ही परिणाम है। सुबोधिनी के 'वाग्विषयम्' शब्द में विषय-शब्द विषयिपरक होने से शब्दसंगति जाननी चाहिये, अर्थ तो वही है—वाणी का विषय। कार्य वाग्विषय होता है यह छांदोग्य के वाक्य से स्पष्ट होता है—'सभी विकार नाम वाला है और वाणी के सहारे रहता है, मिट्टी (अर्थात् तदुपलक्षित कारण)—इतना ही सत्य है।' उस शि-को नाम-रूपाकार में व्यक्त करने वाला, उसे आकाश आदि के स्वरूपों में बाँटने वाला होने से कारण ब्रह्म शिव शब्द से कहा जाता है। वन धातु से 'अन्येष्वपि दृश्यते' (पाणि. ३.२.१०१) सूत्र से ङप्रत्यय होने से इष्ट रूप सिद्ध हो जाता है। पद्मपादाचार्य ने व्याख्या में जो 'तद्वानात्' कहा है वह 'तस्य वानात्' इस समास के अभिप्राय से है और वानशब्द वन धातु से भावार्थक घञ्प्रत्यय से (पाणि.३.३.१८) बनाया है। वन धातु (भ्वा.प.से.) संभक्ति अर्थ वाला है। संभक्ति से प्रकृत में तो बाँटना समझना होगा। अतः इसे दशमगणीय मानना पड़ेगा। इसीसे सुबोधिनी में 'वनयति'—यह व्युत्पत्ति दिखाई है। सेव्य होने से 'तद्वन' ऐसा शिव का नाम केनोपनिषत् में प्रसिद्ध है। अथवा वा (अ.प.अ.) धातु से 'व' शब्द और 'वान' शब्द समझने चाहिये। वा धातु सूचन अर्थ वाला है। सूचन से यहाँ व्यक्त करना ही जानना होगा। उभयथा भी अर्थ एक ही है। संबोधित किया है उन्हें जो ब्रह्म में तत्पर हैं ऐसा साधकों को। वे ही इस प्रकृतिनियंता को समझ व पा सकते हैं॥१४॥

शिवशब्दार्थमुक्त्वा नमःशब्दार्थमाह—न मा यस्यास्तीति। अत्र माशब्दो लक्ष्मीवाचकः 'इन्दिरा लोकमाता मा' इत्यमरः। न मा यस्यास्ति; यस्य मम लक्ष्मीः नास्ति सोऽहं नमशब्दवाच्यः, लक्ष्मीहीनो दरिद्रोऽस्मि अत्र न संशयः। कुत एतत् ? हे लक्ष्मीश! मायेश! प्रकृत्यधिपते! यतोऽहं

देवः दीव्यति विजिगीषति निराकर्तुमिच्छति दरिद्रमज्ञानमिति देवः। दरिद्रं निराकृत्य लक्ष्मीं विद्यां प्राप्तुमिच्छामि इत्यर्थः। तस्माद् मम ज्ञानाधिकारित्वाद् मे मह्यं विरक्ताय मुमुक्षवेऽधिकारिणे प्रापय देहीत्यर्थः। इहैव अस्मिन्नेव जन्मनि। लक्ष्मीम् ऐश्वर्यमित्यर्थः। किन्तदैश्वर्यम् ? इत्यत आह—विद्याम् आत्मविद्यां सनातनीं त्रिकालाबाध्यामेकरसामपरिच्छिन्नरूपां साम्राज्यलक्ष्मीमित्यर्थः॥१५॥

शिवशब्द का अर्थ बताकर नमःशब्द का अर्थ बताया जा रहा है : मा जिसकी नहीं है वह नम-शब्द का अर्थ है। मा-शब्द लक्ष्मी का वाचक है। जिस मुझ साधक के पास लक्ष्मी नहीं है वह मैं ही नम-शब्द का अर्थ हूँ। इसमें हेतु बताने के लिये ही भगवान् को 'लक्ष्मीश' से सम्बोधित किया—क्योंकि लक्ष्मी आपकी है इसलिये वह मेरी क्योंकर होगी ? ईश्वर का धन उनकी प्रकृतिरूप माया ही है। इस प्रकार नम-शब्द से जीव कहा। उसे ही 'देव' भी पद्मपादाचार्य ने कह दिया है। दिव् धातु (दि.प.से.) के अनेक अर्थों में एक है जीतने की इच्छा। अतः लक्ष्मी-हीनता रूप दारिद्र्य को समाप्त करने की इच्छा वाला अर्थात् विद्यारूप लक्ष्मी चाहने वाला मुमुक्षु जीव ही देव है। इससे अपनी अधिकारिता बतायी, मुमुक्षा व विविदिषा—ये अधिकारिगुण हैं। ऐसे मुझ 'नम' 'देव' को सनातन विद्यारूप लक्ष्मी दीजिये—यह मंत्रराजपूर्वक प्रार्थना है। सनातन अर्थात् कभी बाधित न होने वाले परमात्मरूप निर्विशेष अनन्त शिव का ज्ञान देने वाली होने से विद्या भी सनातन कही जाती है। किं च नित्यवेद का उपदेश होने से भी वह सनातन—सदा रहने वाली है। मोक्षसाम्राज्यरूप लक्ष्मी इस विद्या से ही प्रतिबद्ध है अतः उसके लिये भी प्रार्थना अर्थसिद्ध हो गयी ॥१५॥

एतमेवार्थं पद्यान्तरेण स्फुटयति—यस्मादिति। यस्मात् त्वं देवैः ब्रह्मादिभिः वेदैः च आनन्दरूपो निगद्यसे तस्मात् हे योगीश! मे मह्यं सुभावनं स्वरूपावगतिकारकं भद्रम् आत्मानन्दप्रदं ज्ञानम् आत्मसाक्षात्काररूपं देहि इति योजना॥१६॥

पूर्वोक्त भाव ही एक अन्य श्लोक से प्रकट किया गया है। भाष्य में स्वपदवर्णन उचित ही है। क्योंकि ब्रह्मादि देवता और वेद आपको आनंदरूप

कहते हैं इसलिये आप मुझे वह आत्मसाक्षात्कार दीजिये जो मुझे अपने स्वरूप का निश्चय कराये और परमानंद देवे। भगवान् को 'योगीश' शब्द से सम्बोधित किया। समस्त योगियों के आचार्य व फलदाता होने से वे योगीश हैं। इस प्रकार छठा व्याख्यान हुआ ॥१६॥

शिवपञ्चाक्षरीभाष्य

यस्मात् त्वं नेति नेतीति नञर्थं मासि वेदजम्।
तस्माद् नमोऽसि भद्रं मे यतो जातोऽनमो नमः॥१७॥
शिवं शिवमथाऽऽप्राप्तः शिवायेति निगद्यसे।
शिवाय ! मे तथा प्राप्त्या शिवायं कुरु सर्वदा॥१८॥

मन्त्रराजप्रकाश

चूँकि वेद से उत्पन्न 'नेति नेति' (बृ. २.३.६) में नञ् के अर्थ को आप माप लेते हैं अर्थात् सर्वतोभावेन जान लेते हैं अतः आप 'नमः' हैं। सर्वनिषेध्य, निषिद्ध एवं निषेधाधिष्ठान को जानने से शिव 'नमः' कहे गये हैं—न माति इति नमः। चूँकि आपकी कृपा से अनम मैं नम बन गया अतः मेरा कल्याण हो गया है।॥१७॥

सकल उपद्रवों से रहित निरतिशय अखण्ड एकरस आनन्दस्वरूप शिवभाव को (आय) आप्राप्त अर्थात् पूर्णरूप से प्राप्त होने से महेश को शास्त्रों द्वारा शिवाय नम से कहा गया है। जिस प्रकार नाम-रूप का सर्वथा निषेध दो नकारों से है वैसे ही शिव का प्रतिपादन भी दो शिवशब्दों से है। पाठान्तर में 'शिवः शिवमथाप्राप्तः' है। शिवभाव को पूर्णता से प्राप्त होने से सदाशिव शिवाय कहे गये हैं। सामान्यतः शवरूप को कल्याणकारी बनाने से जीव को भी शिव कहते हैं। पर वे तो शिवाय हैं। हे शिवाय! मुझे भी वही अवस्था प्राप्त कराके सर्वदा शिवाय बनाओ, यह भाव है॥१८॥

सुबोधिनी

अथ सप्तमव्याख्यानम्।

यस्मात्त्वमिति। हे भगवन्! यस्मात् कारणात् त्वं वेदजं बृहदारण्यवेदोक्तं नेति नेतीति नञर्थं नञ्विषयं निषेध्यजातं सकलमूर्तामूर्तात्मकाकाशादिप्रपंचं तद्वासनारूपं च

अन्तःकरणाद्यध्यस्तप्रपंचं मासि मानगोचरत्वापादनेन व्यवहारविषयं करोषि। यथा मानपात्रं प्रस्थं व्रीहियवादिकं याति स्वात्मनि धारणेन निःसारणेन च मानविषयं करोति स्वयं च निर्लेपस्तिष्ठति, तथा त्वमपि इदं जगद् विवर्तरूपेणात्मन्याविर्भूतं तिरोभूतं च करोषि स्वयं च निषेधोद्दिष्ट इव स्वरूपतः असङ्गैकरसः सच्चिदानन्दात्मना तिष्ठसि। दृष्टं चैतद् (बृ. २.३.६) 'यथा' लोके 'महारजनं वासः' तत्र महारजनं तु हरिद्रा तया रक्तं वासोऽपि महारजनं प्रोच्यते; एवं स्त्र्यादिविषयसंयोगाच्चित्तस्यापि वासनारूपं रञ्जनाकारमुत्पद्यते; तदेव नत्रा निषिद्ध्यते, तस्माद् नमोऽसि। कथमेवं निर्देशः ? इत्यत आह—नेति नेतीति एवं निर्देशः। इदं च नकारद्वयं वीप्सार्थं—यद्यत् प्राप्तं तत्तद् निषिद्ध्यते। तथा च सर्वोपाधिनिराकरणद्वारेण 'सैन्धवघनवद् एकरसं प्रज्ञानघनम् अनन्तरमबाह्यं' (द्रष्टव्य बृ. ४.५.१३) 'सत्यस्य सत्यम्' (बृ. २.३.६) ब्रह्माहमस्मीति (द्रष्टव्य बृ. १.४.१०) आत्मन्येव अवस्थिता प्रज्ञा भवति। कथमेवं ब्रह्मणो निर्देशः ? अत्राह—'न ह्येतस्मादिति नेत्यन्यत् परमस्ति' (बृ. २.३.६)। हि—यस्माद्; इति—न इति, न इति; एतस्माद् अन्यत् परं निर्देशनं नामरूपरहितस्य आत्मनो नास्ति, तस्मादयमेव निर्देशो ब्रह्मणः। 'अथ नामधेयं' (बृ. २.३.६) ब्रह्मणः; नामैव नामधेयम्। किन्तत् ? 'सत्यस्य सत्यं प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम्' (बृ.२.३.६) इति नमःशब्दार्थः। तस्मान्नमोऽसि सकलनिषेधाधिष्ठानत्वेन सर्वाश्रयोऽसीत्यर्थः। एवम्भूतस्य ते स्वरूपज्ञानाद् मे ममापि भद्रं कल्याणमेवाऽभूत्। किन्तद्भद्रम् ? इत्यत आह—यतो जातोऽनमो नमः। यतः कारणाद् अहं अनमः परिच्छिन्नतयाऽऽत्मानं मन्यमानोऽपि नमो जातः स्वभावसिद्धाऽपरिच्छिन्नस्वरूपो जातः, असर्वाश्रयः सर्वाश्रयो जात इत्यर्थः॥१७॥

अब सातवें ढंग से मन्त्र की व्याख्या की जायेगी। इसमें 'नमः' शब्द परमेश्वर का ही बोधक है। न-को जानने वाले होने से वे नम हैं। 'न' अर्थात् 'नेति नेति' वाक्य में जिसका निषेध किया गया है वह व्यक्त-अव्यक्त सारा संसार। अव्यक्त से वासनारूप संसार भी समझना चाहिये। ऐसे समस्त प्रपंच को शिव जानते हैं अर्थात् व्यवहारयोग्य बना देते हैं। जौ, चावल आदि को मापने का बर्तन होता है जिसे प्रस्थ कहते हैं। वह जौ आदि

को पहले अपने में धारण करता है फिर अपने में से निकालता है, इस तरह उसे मापा हुआ बना देता है किन्तु खुद उसका न जौ से कोई लेप होता है और न चावल से। ऐसे ही हे भगवन् ! आप भी इस जगत् को अपने ही अंदर विवर्तरूप से प्रकाशित करते हैं व छिपा लेते हैं किन्तु स्वयं स्वरूप से निर्लेप, निर्विशेष, सच्चिदानन्दरूप से रहते हैं। सुबोधिनी में 'निषेधोद्दिष्ट इव' कहा है। जब किसी का निषेध किया जाता है तब 'कहीं' किया जाता है—घट का निषेध भूतल पर किया जाता है। वे भूतलादि स्थान निषेध का उद्दिष्ट—उद्देश्य—समझने चाहिये। जैसे घटनिषेध से भूतल का घटासम्बन्ध ज्ञात होता है वैसे प्रपंचनिषेध से परमात्मा का प्रपंचासम्बन्ध ज्ञात होता जाता है। प्रपंच निषेध भी तो 'कहीं' करना होगा। प्रपंच से भिन्न एक परमशिव ही है अतः उन्हीं में उसका निषेध संभव है। वस्तुतस्तु विवर्तप्रसंग होने से रज्जु में सर्पनिषेध का दृष्टान्त ही यहाँ बोध्य है। एवं च बाधसामानाधिकरण्य स्पष्ट है। लोक में यह देखा गया है कि हल्दी से जैसे कपड़ा रंग दिया जाता है वैसे स्त्री आदि विषयों के सम्बन्ध से चित्त में भी वासनारूप रंग उत्पन्न हो जाता है। उस वासना का भी श्रौत 'नेति' द्वारा निषेध है। इसलिये सारे निषेध्य के ज्ञाता शिव 'नमः' कहे गये हैं।

'न' शब्द के इतने बड़े अर्थ को समझाने के लिये आधारभूत 'नेति नेति' श्रुति पद्मपादाचार्य ने उपस्थित की है। श्रुति का सीधा अर्थ है 'यह नहीं, यह नहीं'। दो नहीं-शब्द पौनःपुन्याभिप्रायक हैं अर्थात् जो कुछ भी प्राप्त हो उसका निषेध किया जा रहा है। अतः सभी उपाधियों को हटाकर नमक के डले की तरह जो बिना तारतम्य वाला प्रज्ञानमात्र है, जिसके अंदर व जिससे बाहर और कुछ नहीं है, जो सापेक्ष सत्य की अपेक्षा निरपेक्ष सत्य है वह ब्रह्म मैं हूँ। इस प्रकार नेतीत्यादि से केवल आत्मा में ही बुद्धि स्थिर हो जाती है। नामरूपरहित परमात्मा का स्वरूप समझाने का और उपाय नहीं, यह उपाय है कि सभी अपरमात्मा को हटा दें; परमात्मा तो स्वयंप्रकाश है। उस परमेश्वर का नाम है—सत्यका सत्य। प्राण अर्थात् तदुपलक्षित सारा व्यावहारिक प्रपंच सत्य है—सापेक्ष सत्य है, उसका यह सत्य है : व्यावहारिक प्रपंच की सत्यता परमात्मरूप सत्य से मानो उधार ली गयी है। व्यावहारिक की सत्यता परमेश्वर ही है। या व्यावहारिक की अपेक्षा परमेश्वर सत्य है—ऐसा समझना चाहिये। इसमें 'अपेक्षा' सुनकर

भ्रम हो सकता है कि परमेश्वर भी सापेक्ष ही सत्य होगा। अतः पूर्वप्रकार से समझाया गया है। इस प्रकार श्रौत प्रक्रियानुसार नम परमशिव है। सभी निषिद्ध उपाधियों के अधिष्ठान होने से वे ही सबके आश्रय हैं। यही औपनिषद रहस्य है कि महादेव सर्वरहित होने से ही सर्ववान् है! सारे तर्कसमयों से यही सिद्ध किया गया है कि सर्ववान् वह ही हो सकता है जो सर्वरहित हो। विद्वानों का स्वानुभव यही है सर्वविशेषसम्पर्कगंधशून्य मैं ही सर्वविशेषविशिष्ट हूँ। इस प्रकार के स्वरूप वाले शिव के आपरोक्ष्य से मुझ साधक का भी कल्याण ही हुआ है—यह मन्त्राभ्यासी का उद्गार है। शिवानुभव से पहले मैं 'अनमः' था अर्थात् आत्मा को परिच्छिन्न मानता था। जिसे माप नहीं सकते वह व्यापक आत्मा नम है अतः उसे वैसा न जानने वाला अनम है। ऐसा भी मैं शिवज्ञान से 'नमः' हो गया—अपने स्वाभाविक स्वरूप में, अनन्त चैतन्य में प्रतिष्ठित हो गया। सबका अनाश्रय हुआ मैं ही अब सबका आश्रय हो गया। जब तक सब आश्रित था तब तक मैं उसका अनाश्रय ही रहा, अब सब रहा ही नहीं, अनाश्रित है, तो मैं ही उसका अकेला आश्रय हूँ। सर्पभानदशा में रस्सी उसका आश्रय कहाँ ? वह तो रस्सीभानदशा में ही पता चलता है कि वही उसका आश्रय है॥१७॥

नमःशब्दार्थमुक्त्वा शिवायशब्दार्थमाह—शिवं शिवमिति। शिवं सकलोपद्रवरहितं, पुनः शिवं निरतिशयाखण्डैकरसानन्दस्वरूपम् आप्राप्तः आ समन्तात् परिपूर्णतया प्राप्तः शिवाय इति त्वं निगद्यसे प्रतिपद्यसे शास्त्रैः। हे शिवाय! परिपूर्णानन्दस्वरूप! मे मम तथा प्राप्त्या शिवायत्वस्य परिपूर्णभावस्य प्राप्त्या मामपि सर्वदा परिपूर्णानन्दस्वरूपं कुरु इत्यर्थः॥१८॥

नमः-शब्द का अर्थ शिव है यह बताया गया। अब शिवाय-शब्द का तात्पर्य स्पष्ट करते हैं—प्रतिबन्धक और विरोधी से रहित निःसीम निरन्तर तारतम्यशून्य केवल आनन्दस्वरूप को जो परिपूर्ण रूप से प्राप्त हो उसे शिवाय कहते हैं। ऐसे तो केवल महादेव हैं। अतः शास्त्रों द्वारा वे ही शिवाय कहे गये हैं। यद्यपि अप्राप्त ही प्राप्त किया जा सकता है और शिव को उक्त स्वरूप कभी अप्राप्त न होने से उन्हें वह प्राप्त नहीं कहा जा सकता तथापि 'पर्यगात्' (ई. ८) 'सर्वगतः' (श्वे. ३.११) आदि की तरह नित्य प्राप्ति ही अर्थ समझना चाहिए अत एव 'आ' उपसर्ग भी सार्थक है। मंत्र

में शिवाय यह सम्बोधन पद है। भाव है कि हे शिवाय! अर्थात् हे परिपूर्ण आनंदस्वरूप वाले! आप नम हैं अतः मुझे भी शिवाय और नम बना दीजिये। इस प्रकार इस सप्तम व्याख्या में मंत्र में दो ही पद हैं व दोनों परमेश्वरबोधक हैं। षष्ठव्याख्या के शिवशब्द का विस्तार यहाँ नमशब्दार्थ द्वारा और नमशब्दार्थभूत जीव की सिद्धावस्था को शिवायशब्द द्वारा व्यक्त किया गया है। भगवान् को कहा जा रहा है इसकी अन्यथानुपपत्ति से ही प्रार्थना का भाव स्पष्ट हो जाता है। जैसे याचक धनिक की प्रशंसा करे तो धनिक स्वयं समझता है कि वह धन माँग रहा है ऐसे शिव को उनके स्वरूप का वर्णन सुनाने से वह स्वयं समझ लेते हैं कि यह इसका प्रार्थी है। कारुणिक, समर्थ व परिपूर्ण होने से देने में भी निःसंकोच हैं, यह अभिप्राय है॥१८॥

शिवपञ्चाक्षरीभाष्य

शिवां यातो महाभद्र नमोऽहं मायया ध्रुवम्।
ततो नमाय मह्यं मः शिवायं कुरु सर्वथा॥१९॥

मन्त्रराजप्रकाश

हे महाकल्याणस्वरूप महादेव! आप शिवा अर्थात् ब्रह्मविद्या को (पतिभाव से) गये हैं। अर्थात् शिवा से आलिंगित ही शिव होते हैं। अतः आप 'शिवाय' हैं। मैं माया से 'नमः' अर्थात् विद्याहीन हूँ। भाव है कि आप विद्येश्वर हैं एवं मैं विद्याशून्य हूँ। इसलिये मुझ नम के लिये 'मः' इस विकारमय नामरूपात्मक प्रपंच को सब तरह शिवायरूप अर्थात् ब्रह्मरूप कर देवें (मस्यतीति मः)। तात्पर्य है कि सारा देह गेहादि प्रपंच ब्रह्मरूप से भासमान होने लगे। अथवा कल्याणमय आप हैं एवं मैं कल्याण से रहित हूँ। अतः आप मुझे व मेरे लिये सभी पदार्थों या लोगों को कल्याणमय बना देवें। सकाम साधक शिवा से महाशक्ति तथा निष्काम महाविद्या लेते हैं, अतः यह अर्थभेद है। सकाम सर्वत्र कल्याण चाहता है व निष्काम सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि॥१९॥

सुबोधिनी

अथाष्टमं व्याख्यानम्।

शिवां यात इति। शिवां शक्तिं ब्रह्मविद्यारूपां यातः अयासीदिति शिवायः, तस्य सम्बोधने हे शिवाय! अत एव हे महाभद्र!

परमकल्याणरूप! त्वं शिवायोऽसि निजस्वरूपस्थोऽसि। अहं तु मायया अविद्यया। प्रकृतिवाचकत्वेन प्रसिद्धस्य मायाशब्दस्य अविद्यावाचकत्वे प्रमाणं श्रुतिवाक्यं 'जीवेशावाभासेन करोति माया चाविद्या च स्वयमेव भवति' (नृ.पू.४.३) इति। नमोऽहं न मा लक्ष्मीर्विद्या यस्यास्तीति नमः, अहं नमो निर्विद्योऽस्मीति ध्रुवं निश्चितमित्यर्थः। यस्मादहं निर्विद्यः, आत्मविद्याभिलाषी च; त्वं च पूर्णविद्यः शरणागतपालकश्च सर्वज्ञत्वात् सर्वेश्वरत्वात् ततः कारणात् नमाय निर्विद्याय मह्यं मदर्थमात्मदर्शनायेति यावत्। इदं मः मश्शब्दवाच्यं सर्वं दृश्यजातमिदन्ताविषयं शिवायं कुरु। कथं मश्शब्दवाच्यमिदन्ताविषयं सर्वम् ? इत्यत्र मश्शब्दस्य व्युत्पत्तिरुच्यते—मसी परिणामे दैवादिकः (दि.प.से.), अस्य धातोः क्विपि रूपं मस्यति परिणमते विकारभावं गच्छतीति मः परिणामि इदं सर्वं देहगेहादिप्रपञ्चजातं शिवायं कुरु भवद्रूपेणैव प्रकाशमानं यथा स्यात्तथा कुरु सर्वथा सर्वप्रकारेण त्वत्स्वरूपातिरेकेण अप्रतीयमानं कुर्वित्यर्थः, येन अहं त्वत्स्वरूपमेव इदन्ताविषयं स्वात्मानं च पश्येममित्यर्थः। तथा चोक्तं स्मृतौ 'वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः' (गी.७.१९.) इति॥१९॥

अब आठवाँ व्याख्यान प्रस्तुत किया जा रहा है। इसमें शिवाय—यह पद शिव का सम्बोधन है और नमः—यह पद जीव का बोधक है। जो शिवा को प्राप्त हो वह शिवाय कहा जाता है। शिवा ब्रह्मविद्यास्वरूपिणी विवक्षित हैं। अतः भगवान् को 'महाभद्र' कहा अर्थात् वे परम कल्याणरूप हैं और मैं नम हूँ। मा अर्थात् विद्यालक्ष्मी जिसके पास नहीं है वह नम है। क्यों नम हूँ ? माया नामक अविद्या के कारण। यद्यपि प्रायः माया से प्रकृति या ईश्वरशक्ति कही जाती है तथापि वह अविद्यारूप है यह श्रुति से मालूम पड़ जाता है। वेद कहता है 'आभासरूप से जीव व ईश्वर को बनाती है, माया और अविद्या स्वयं ही होती है।' वैसा न होते हुए वैसा प्रतीत होना आभास कहा जाता है जैसे अहेतु जब हेतु की तरह प्रतीत हो जब हेत्वाभास कहा जाता है। परमशिव भी समष्टि-व्यष्टि उपाधियों से

असम्पर्क वाला रहते हुए ही क्योंकि उनके सम्पर्क वाला प्रतीत हो ईश्वर व जीव बनता है इसलिये उसे आभासरूप से ही बनना कहा है। यह बनना होता सर्वत्र अज्ञान से है अतः यहाँ भी अज्ञान ही कारण है। वही अज्ञान समष्टि-उपाधि अर्थात् माया भी बन जाता है और व्यष्टि-उपाधि अर्थात् अविद्या भी बन जाता है। एवं च मायाख्य अज्ञानवश मैं साधक विद्याहीन हूँ। यह बात निश्चित है क्योंकि मुझे साक्षाद् अनुभूत है। स्वयं को नम समझा है, इससे सूचित होता है कि मैं मा का—ब्रह्मविद्या का, तत्त्वप्रमा का—इच्छुक हूँ। उधर आप शिवाय हैं—विद्या से परिपूर्ण हैं। सर्वज्ञ सर्वशासक होने से शरण में आये का पालन आप करते अवश्य हैं।

अतः नम मुझे अर्थात् ज्ञानरहित मेरे लिये, मुझे आत्मदर्शन हो इसके लिये यह करिये कि जितना कुछ भी 'मः' है वह 'शिवाय' हो जाये। 'मः' अर्थात् यह—इस रूप से प्रतीयमान विकारशील सारा दृश्य प्रपंच। मस धातु बदलना अर्थ वाला है उसी से बना 'मः' शब्द बदलने वाले का वाचक है। उसे 'शिवाय' करना है अर्थात् वह आप रूप से ही भासे, आपके स्वरूप से अतिरिक्त न भासे ऐसा करना है। यह भास भी 'सर्वथा' प्रार्थित है अर्थात् भान का कोई एक प्रकार ही ऐसा हो कि दृश्य शिवरूप लगे—यह नहीं बल्कि जो भास हो वह शिवरूप ही हो यह प्रार्थना की जा रही है। केवल दृश्य ही नहीं, मैं स्वयं भी शिवरूप से अतिरिक्त न भासूँ यह प्रार्थी का भाव है। वासुदेव ही सब है—यह जानने वाला महात्मा है व बहुत दुर्लभ है, ऐसा स्मृतिप्रस्थान में कहा है। 'मः न; किन्तर्हि ? शिवायः' ऐसी योजना अभिप्रेत है। सम्बोधनपद का प्रथमान्ततया परिणाम हो जाता है। पूर्वव्याख्या में अपनी शिवरूपता हो इसकी प्रार्थना मुख्य थी 'मे शिवायं कुरु' और यहाँ दृश्य की शिवरूपता हो इसकी प्रार्थना मुख्य है 'मः शिवायं कुरु'। शतश्लोकी में भी यह क्रम बताया है कि पहले मैं शिव हूँ यह अनुभव होता है व बाद में यह शिव है ऐसा अनुभव होता है। षष्ठ व्याख्या में नम से अपनी विद्यारहितता कहकर विद्या की प्रार्थना थी और यहाँ सर्वत्र शिवदृष्टिरूप ज्ञानफल की प्रार्थना है, यह विशेष है। इस प्रकार यह अष्टम व्याख्या हुई॥१९॥

शिवपञ्चाक्षरीभाष्य

शिवमेषि यतो ज्ञप्त्या शिवायस्त्वं प्रपठ्यसे ।
न ते माया यतो ज्ञप्त्या नमो वेदैः प्रपठ्यते ।।२०।।
नमोऽहं च शिवायोऽहं नमो मह्यं नमो नमः ।।२०$^{१}/_{२}$।।

मन्त्रराजप्रकाश

चूँकि आत्माकारवृत्ति ज्ञान से शिवभाव को प्राप्त करते हो अर्थात् अविद्या को नष्ट करके आनन्द में स्थित होते हो अतः वेदों में आप शिवाय कहे जाते हो । पुनः चूँकि ज्ञान से आप में माया नहीं है अतः वेदों के द्वारा नमः भी कहे जाते हो । अतः ज्ञानावस्था में मायाहीन निर्गुणभाव को मुझे भी प्राप्त करा दो यह भाव है । जिस उपाधि में शिव का ध्यान किया जाता है वही उपाधि अपने में प्रकट हो जाती है इस सिद्धांत के अनुसार इन दोनों सम्बोधनों से ज्ञानप्राप्ति की प्रार्थना है ।।२०।।

उपर्युक्त सभी अर्थों को सङ्क्षेप में बताया जा रहा है । मैं नमः हूँ एवं मैं शिवाय हूँ । भाव है कि मन्त्रराज की साधना करके मैं मायारहित शिवभाव को प्राप्त कर गया हूँ । ऐसे मेरे साक्षिरूप अहं को बार बार नमस्कार है ।।२०$^{१}/_{२}$।।

सुबोधिनी

अथ नवमं व्याख्यानम् ।

शिवमेषीति । ज्ञप्तिर्ज्ञानं स्वस्वरूपाविर्भावः, तया ज्ञप्त्या शिवं निरतिशयानन्दरूपमात्मतत्त्वम् एषि जानासि यतः कारणादतः त्वं शिवायः, इण गतौ (अ.प.अ.) अस्य अण्प्रत्यये रूपम्; प्रपठ्यसे शास्त्रैः । तथा तयैव ज्ञप्त्या ज्ञानेन स्वरूपसाक्षात्कारेण ते तव माया उपाधिरविद्या च न विद्यते यतः कारणादतः त्वं नमः प्रपठ्यसे, न विद्यते मा यस्य स नमः; 'इन्दिरा लोकमाता मा' इति माशब्देन लोकमाता जगत्कर्त्री प्रकृतिरव्यक्तमुच्यते । साऽखण्डाऽद्वैतैकरसानन्दस्वरूपस्य तव न विद्यते 'अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च' (कठ. ६.८) इति श्रुतेरिति वेदैः नमः प्रपठ्यसे ।।२०।।

अब नौवें प्रकार से 'नमः शिवाय' का अर्थ बताते हैं । निरधिक आनंदरूप निज वास्तविकता निज रूप से सदा प्रकाशमान होने से महादेव शिवाय-शब्द से शास्त्रों में कहे गये हैं । इण धातु से शिवरूप कर्म उपपद रहते अण् प्रत्यय होने से (३.२.१ पाणि.) शिवाय शब्द बनता है । उसी प्रकाशमानता से भगवान् कभी माया वाला नहीं हो पाता, वह उनकी उपाधि नहीं बन पाती । उन्हें अपने स्वरूप का अबोध हो तब उपाधि उन्हें अन्यथा प्रतीति करावे । जब कभी अबोध होता नहीं तो अन्यथा प्रतीति होती नहीं अतः उपस्थित भी माया उनके लिये नहीं जैसी ही है । जीवदृष्टि से ही माया शिवोपाधि है । इसी अभिप्राय से रहस्यवेत्ता ईश्वरता को जीव की कल्पना कह देते हैं । उससे ईश्वर जीवकल्पित है ऐसा कुछ लोगों को भ्रम हो जाता है, यह बात पृथक् है । अतः माया जिनके लिये उपाधि नहीं है अथवा वस्तुतः न ही होने से माया जिनकी उपाधि नहीं है वे महादेव ही नम हैं । माशब्द लोकमाता का वाचक नामलिंगानुशासन में बताया ही गया है । सब लोकों की माता अव्यक्त प्रकृति है ही । उससे भी परम पुरुष तो परे है क्योंकि व्यापक है । प्रकृति उस पुरुष की उपाधि भी नहीं है । उपाधि उपहित से सम्बद्ध होने से उसकी बोधिका होती है । शिव का कोई बोधक नहीं यह अलिंग कहकर वेद ने बताया है । अतः निश्चित है कि प्रकृति पुरुष की उपाधि नहीं । अतः नम भी शिव है । टीकाकार चतुर्थ पाद में 'प्रपठयसे' पढ़ते हैं । मूल में 'प्रपठ्यते' मिलता है । अर्थ में विशेष नहीं ।।२०।।

उक्तस्य फलितमाह—नमोऽहमिति । अहम् अपि च त्वदनुगृहीतो ज्ञातात्मस्वरूपोऽस्मि त्वद्व्यतिरिक्तं न किञ्चिदात्मनि पश्यामि, त्वत्स्वरूपमेव सर्वं पश्यामि, एवमेकात्मदर्शनाद् नमोऽहं निरविद्योऽहम् । निर्गताविद्योपाधित्वात् शिवायः स्वरूपद्रष्टा चाहमतो मह्यं मदर्थं मत्प्रशंसायै नमो नमः; नमोऽयं नमोऽयं—निरविद्योऽयं निरविद्योऽयमिति वीप्सया नमः शब्दः प्रयुज्यतेऽभिज्ञैरिति शेषः । इति नवमम् ।। २०$^{१}/_{२}$।।

'नमः शिवाय' के उक्तार्थ के अनुसंधानपूर्वक जपादि का फल बता रहे हैं : हे भगवन् ! आपकी कृपा से आत्मा के स्वरूप की जानकारी वाला मैं आपसे अतिरिक्त अपने में कुछ नहीं समझता, सबको आपरूप ही समझता हूँ । इस प्रकार एकात्मता के अनुभव से मैं भी नम हो गया हूँ, अविद्यारहित हो गया हूँ । परमशिव की कृपा ही अकेला, पर्याप्त व अनिवार्य हेतु है अविद्यानिवृत्ति का यह सभी शास्त्रों का मान्य मत है । स्वयं में अशिवतादर्शन ही बंध है व अशिवता का सदा अदर्शन ही मोक्ष है । यही एकात्मता है । भेदधी रहते, शिव-अशिवबुद्धि रहते, कर्ता, कर्म आदि नानात्वनिश्चय रहते एकात्मता असंभव है । व्यवहार है ही भेदरूप, अतः व्यवहार में एकात्मता—यह वदतोव्याघात है । अविद्या रूप उपाधि हट जाने से मैं ही शिवाय भी हूँ, स्वरूप को देखने वाला, जानने वाला भी हूँ । अतः मेरी प्रशंसा के लिये ही जानकार लोग बार-बार कहते हैं—यह नम है, यह नम है अर्थात् यह अविद्याहीन है, अविद्याहीन है । आविर्भूतस्वरूपदृष्ट्या भी मुझे शिष्टों द्वारा सदा नम और शिवाय कहा गया है व अब प्रशंसार्थ कहा जा रहा है । अनम यदि नम होता हो फलकथन संभव था । क्योंकि वैसा नहीं है इसलिये मात्र प्रशंसा के लिये ही मुझे अनम से व्यावृत्त किया जा रहा है, यह भाव है । इस प्रकार यह नवम व्याख्या हुई ।

इन व्याख्याओं में सर्वाधिक विकल्प नमः शब्द से उपस्थित हुए हैं व दूसरी, सातवीं, आठवीं और नौवीं व्याख्याओं में शिवाय को एक शब्द तथा अन्यों में शिव एवं अय यों दो शब्द माना है । सभी व्याख्याओं में फल भी विभिन्न बताये हैं । सकाम साधक और निष्काम साधक दोनों के लिये अर्थात् अभ्युदय व निःश्रेयस, भोग व मोक्ष दोनों के लिये पंचाक्षरोपासना स्वीकारी गयी है । सूतसंहिता में (२.५.२२) स्त्री व शूद्र को भी पंचाक्षरी में अधिकार दिया है । अन्यत्र भी पुराणों ने इस मंत्र का विस्तृत अधिकारक्षेत्र प्रतिपादित किया है । एवं च सभी शिवभक्तों को भोगेच्छा या मोक्षेच्छा होने पर 'नमः शिवाय' का जपादि करना ही उचित है और शिवस्वरूप सिद्ध तो अंतिम व्याख्यानुसार इसी मंत्र से अपनी कृतकृत्यता का नित्य अनुभव करते ही हैं तथा शिष्यों के प्रति प्रकट भी करते हैं । व्याख्याक्रम में त्याग से आरंभ कर विवेक, पदार्थशोधन तथा महावाक्यज्ञान बताकर निरविध निरुपाधि आत्मतत्त्व का प्रतिपादन है । इसी प्रकार शिवाय की व्याख्याओं में आनंदरूप अधीश्वरता से पुरुषार्थता कहते हुए आरंभ कर अध्यारोपापवादन्याय से सृष्ट्यादि, अधिष्ठानत्व, औपाधिकत्व बताकर शुद्ध को बताया गया है । फलक्रम में भी यही तारतम्य स्पष्ट है । चौथी व्याख्या में अनेक अवांतर विकल्प उपस्थित किये गये हैं । शुभेच्छादि भूमिकाओं से भी इन व्याख्याओं का सम्बन्ध समझा जा सकता है । आठवीं व्याख्या विदेहमुक्ति तथा नौवीं अजात का प्रतिपादन कर रही है । त्याग शुभेच्छा है । प्रणाम विचारणा है । आचार्यों ने (सर्ववेदां. श्लो. ९४२) सदाचारप्रवृत्ति को विचारणा कहा है तथा प्रणाम ही प्रमुख सदाचार है ।

अभिमाननाश स्पष्ट ही तनुमानसी नामक तृतीय भूमिका है । चौथी व्याख्या में सत्त्वापत्ति स्फुट है । इससे जन्ता शिव की प्राप्ति ही वास्तविक असंसक्ति है । सभी विकारों को शि-शब्दित प्रकृति में छोड़ देने से स्वात्मा में पदार्थों की भावना का प्रसंग ही न होने से पदार्थाभावना प्रकट होती है । अनम का नम हो जाना ही तो तुरीयलाभ है, तुर्यगा है । इन व्याख्याओं को संक्षेप में इस प्रकार समझना चाहिये—

व्याख्या क्रम	नमः	शिवाय (शिव + य)		फल
१.	त्याग	आनन्द फल		पुरुषार्थचतुष्टयसिद्धि
२.	प्रणाम	देवदेवेश		सकाम व निष्काम को सेवारूप दैन्य द्वारा ज्ञाप्ति व उससे सिद्धिप्राप्ति।
३.	(*i*) न-मः, भावविकारनिषेध। (*ii*) अभिमाननाश (साधक का)	निर्विकार, निरवच्छिन्न सदेकरूप	प्राप्त करावें (गमय)	नित्यशुद्धि
४.	(*i*) नमन (ध्यान)। (*ii*) अपनी दासता। (*iii*) त्यागता हूँ। (*iv*) विवेक से मंत्रपूर्वक आत्मा विज्ञेय है।	ब्रह्मा आदि रूप धारण करने वाला परमात्मा।	जीव-ब्रह्म का तादात्म्य।	(*i*) वेदान्तनिष्ठा से यह हूँ, शिव मैं है। (*ii*) परमप्राप्ति, अर्थादि की भी प्राप्ति। (*iii*) मुक्ति
५.	प्रणामकर्ता उपासक	सर्वसंहर्ता	पहुँचायें (प्रापय)	जन्ता शिव की प्राप्ति
६.	लक्ष्मीहीन (न-मः)	शि-प्रकृति को व-कार्यरूप में बाँटने वाला	पहुँचायें (प्रापय)	विद्या-लक्ष्मी की प्राप्ति
७.	न-निषेध्य प्रपंच को मः-मापने-जानने-वाले महादेव।	अखण्ड एकरस आनन्द स्वरूप को प्राप्त		(*i*) अनम जीव का नम होना (*ii*) परिपूर्णानन्दस्वरूपता

८.	न-नहीं है, मः-विद्या जिसमें वह अज्ञ साधक	शिवा को प्राप्त	म-दृश्य को शिवाय करना— भगवद्रूप से ही जानना
९.	न-नहीं है, मः—माया उपाधि जिसकी वह निरुपाधि	शिवा का जानकार	स्वयं नमः और शिवाय होना।

इस प्रकार आचार्य श्री पद्मपाद ने मंत्रराज समझाकर ढाई श्लोक से ग्रंथसमापन यों किया है—

शिवपञ्चाक्षरीभाष्य

नमो नमाय शुद्धाय मङ्गलाय नमो नमः ।।२१।।
नमो न मसनं शम्भो निराकाराय ते नमः ।
निर्गुणं निष्क्रियं शान्तमित्याद्याः श्रुतयो जगुः ।।२२।।
नमो ब्रह्म निराकारं शिवायं शिव! सर्वदा ।
अतोऽहं च नमा भद्र ! शिवायोऽहं न संशयः ।।२३।।

मन्त्रराजप्रकाश

इस प्रकार परमेश्वर को अपरोक्ष बताकर अपरोक्ष आत्मतत्त्व को नमस्कार ज्ञानी जन सदा करते हैं । अहंप्रत्यय में ही शिव का सर्वश्रेष्ठ प्रकाश होने से अहंग्रहोपासना की उत्तमता सर्वत्र वेदान्तों में प्रतिपादित है । पुनः नमः अर्थात् मायारहित शुद्ध मङ्गल रूप के प्रति शरीर, वाणी व मन से नमस्कार है ।।२१।।

हे शंभु ! हे नमः ! चूँकि आपमें कोई विकार नहीं होता अतः आपके निराकार रूप को नमन है । इसमें श्वेताश्वतरशाखा का आपको निर्गुण, निष्क्रिय व शान्त बताने वाला मन्त्र प्रमाण है ।।२२।।

हे शिव ! आप हमेशा नमः (माया, तत्कार्य व तदधिष्ठान को सब प्रकार से जानने वाले) हैं, सर्वव्यापक (ब्रह्म) हैं, आकारों से रहित

हैं (निरवयव हैं) तथा शिवाय (शिवा से माधुर्यभाव में संश्लिष्ट) हैं । इस प्रकार आपकी अखण्ड व्यापक सत्ता में सबका समावेश होने से मैं भी भिन्न सत्ता वाला नहीं हो सकता । अतः शुद्ध रूप में आपसे अभिन्न होने से मैं भी नम (परिणामरहित) तथा शिवाय (ब्रह्मविद्या को प्राप्त) हूँ । हे भद्र ! आपकी कृपा से मैं ऐसा बन सका हूँ यह निश्चित है ।।२३।।

सुबोधिनी

इदानीमात्मलाभसन्तुष्ट उक्तविशेषणविशिष्टाय भगवते शम्भवे प्रणामं करोति—नमो नमायेति । नमाय अविद्यारहिताय अत एव शुद्धाय निर्विकाराय; शुद्धत्वादेव मङ्गलाय आनन्दप्रदाय नमो नमः ।।२१।।

अब जो आत्मप्राप्ति से पूर्ण वास्तविक तुष्टि पा चुका है वह भगवान् शंभु को प्रणाम करता है—हे पंचाक्षराराध्य ! आपको प्रणाम है । आप नम हैं, अविद्यारहित हैं व इसीलिये शुद्ध हैं, विकारों से शून्य हैं । शुद्ध होने से ही आप मंगल हैं, आनन्द प्रदान करते हैं । आपको बारम्बार नमस्कार है ।

पुनर्व्याख्यातनामानं प्रणमति—नमो न मसनमिति । हे शम्भो ! ते तव मसनं परिणाम आकारविशेषो न विद्यते । त्वं नमा असि, अतो हे नमः ! निराकाराय ते तुभ्यं नम इति । निर्विकारत्वे श्रुतीः प्रमाणयति 'निर्गुणं' 'निष्क्रियं शान्तम्' (द्र. श्वे. ६.११; श्वे. ६.१९) इत्याद्याः श्रुतयः त्वां निराकारं जगुः कथयाञ्चक्रुरित्यर्थः ।।२२।।

जिनके नाम की व्याख्या की उन महादेव को पुनः प्रणाम करते हैं—हे शंभो ! आपका कोई परिणाम या विशेष आकार नहीं है, इसलिये आप नमस्-शब्द से बोध्य हैं । आप निराकार हैं । ऐसे आपको नमन करता हूँ । भगवान् की विकाररहितता वेद में बतायी हैं : श्वेताश्वतर उन्हें निर्गुण साक्षी चेतन, क्रियाशून्य व शांत कहती है । यहाँ आचार्य ने 'निर्गुणः' इस प्रथमान्तश्रुति का 'जगुः' के कारण 'निर्गुणम्' ऐसा उल्लेख किया है । अथवा 'निर्गुणम्' यह उद्देश्यसमर्पण है—निर्गुण आपको श्रुतियाँ निष्क्रिय व शांत कहती हैं यह अर्थ है ।।२२।।

पुनर्विशिनष्टि—नमो ब्रह्मेति । हे शिव ! त्वं नमःशब्दोक्तं निराकारं शिवायं परिपूर्णं ब्रह्म असि । सर्वदा एकरसोऽसि । तव पूर्णत्वाद् ममापि त्वद्रूपत्वाद् अतोऽहम् अपि नमाः परिणामरहितः, शिवायः परिपूर्णरूपश्च अहं, न संशय इति । इति नवमं व्याख्यानम् ।।२३।।

व्याख्याननवरत्नानां मालां विज्ञमनोरमाम् ।
श्रीमच्छङ्करहृद्भूषां हरनामाभिधो व्यधात् ।।

ॐ नमः शिवाय ।।

पुनः भगवान् का स्वरूप बताते हैं—हे शिव आप ही नम-शब्द से कहे गये हैं, निराकार हैं, शिवाय हैं, परिपूर्ण ब्रह्म हैं, सदा एकरस हैं । क्योंकि आप पूर्ण हैं, अद्वितीय हैं इसलिये मैं भी आपरूप ही हूँ । इसी से मैं भी परिणाम वाला, विकार वाला, नहीं हूँ व परिपूर्ण शिवाय हूँ, इसमें कोई संशय नहीं । इस प्रकार पद्मपादाचार्य कृत मंत्रव्याख्या के नवों विकल्प स्पष्ट कर दिये ।

अब टीकाकार श्लोकाक्षरव्याख्या की समाप्ति तथा श्लोकतात्पर्य द्वारा शारीरकार्थ- प्रदर्शन के प्रारंभ में ग्रंथमध्यस्थ मंगल कर रहे हैं—'हरनाम' नामक पण्डित ने नौ व्याख्यान रूप रत्नों की ऐसी माला बनाई है जो जानकारों के मन को भाती है और श्रीमान् शंकर के वक्ष का आभूषण है । इस श्लोक में 'हरिनामाभिधः' यह पाठ होना चाहिये क्योंकि ग्रंथात में व पुष्पिका में लेखक का 'हरिनाम' यही नाम दिया गया है । तब पद्मपाद भी हरिरूप होने से मूलकार का भी यहाँ निर्देश स्पष्ट है । अतएव भगवान् को शंकर कह कर आचार्यपादों को यह व्याख्या बहुत पसंद आयी, यह भी ध्वनित होता है । अज्ञों को तो यह खींच-तान लगेगी इसीलिये इसे विज्ञमनोरम कहा । ऐसे ही, शंकर में लगा है हृदय जिनका उन्हें यह कण्ठस्थ कर लेनी चाहिये तभी यह उनका भूषण बनेगी यह उपदेश दिया गया है । इसीलिये टीकाकार का श्रम सफल है । माला तो आचार्य ने बना दी पर वह केवल विज्ञमनोरम ही थी, जानकारों को ही सुख देती थी । टीकाकार ने उसे शिवासक्तचित्त वालों के लिये भी आभरण बना दिया; व्याख्या के

सहारे जो विशेषज्ञ नहीं सामान्य ज्ञान वाले हैं, वे भी उस माला को समझ सकते हैं । नौ अर्थ तो हैं ही, सभी नये भी हैं यह विशेषता है । इस प्रकार मंगल द्वारा सुबोधिनी का एक भाग पूर्ण हुआ ।

एवं पञ्चक्षरीमहामन्त्रव्याख्यानमुक्तम् । इदानीं शारीरक-सूत्रभाष्यतात्पर्यगर्भितमेतदिति ज्ञापनाय शारीरकभाष्यसंक्षिप्ततात्पर्यांशस्य अस्मिन् भाष्यव्याख्याने किञ्चिद् अन्तर्भूतत्वं वर्ण्यते ।

इस प्रकार पाँच अक्षरों से बने 'नमः शिवाय' इस श्रेष्ठ मंत्र का व्याख्यान आचार्यप्रदर्शितरीति से समझा दिया । अब यह बताना है कि उक्त व्याख्यानों में ब्रह्मसूत्र एवं उसके शांकरभाष्य के तात्पर्य का समावेश है । अतः किस अंश का किस व्याख्या में कैसे अन्तर्भाव है यह बतायेंगे ।

किन्तु एक प्रश्न उपस्थित होता है कि ब्रह्मसूत्रों का तात्पर्य क्या है—यह मालूम हो तभी अंतर्भाव समझा जा सकता है । अतः पहले ब्रह्मसूत्रों का ही तात्पर्यनिर्णय कर लेना चाहिये । बताया जा चुका है कि ग्रंथतात्पर्य का निर्णय छह चिह्नों से होता है । अतः उन्हीं के प्रदर्शन से तात्पर्य बताते हैं—

१. शास्त्र प्रारंभ होता है 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (१.१.१) सूत्र से । जिज्ञासा का फल मोक्ष ही शास्त्रकार को विवक्षित है अन्यथा पुरुषार्थाधिकरण (३.४.१) से विरोध होगा । ज्ञान से बंधनिवृत्ति की प्रतिज्ञा बंध को मिथ्या घोषित करती है । ज्ञान सिद्धवस्तुविषयक होने से एवं मोक्षनित्यत्वकी अन्यथा अनुपपत्ति होने से ब्रह्म नित्यमुक्तस्वरूप ही संभव है । एवं च अद्वितीय परब्रह्म में उपक्रम है ।

उपसंहार भी है 'अनावृत्तिः शब्दात्' (४.४.२२) । ब्रह्मभाव को प्राप्त लोग नित्य स्थिति पाते हैं यह भाव है । नित्य स्थिति ब्रह्मातिरिक्त हो नहीं सकती अतः परब्रह्म में ही उपसंहार है । प्रश्न संभव है कि उक्त सूत्र देवयान से जाने वालों की अनावृत्ति बता रहा है न कि ब्रह्म को प्राप्त कर चुके लोगों की अतः यह उपसंहार ब्रह्म में कैसे है ? उत्तर है कि श्रुति ने स्पष्ट किया है कृत से—कर्म से—अकृत की—नित्य की—प्राप्ति

होती नहीं । अतः केवल देवयानगति अनावृत्ति का प्रयोजक नहीं है । केवल तत्त्वज्ञान से ही अनावृत्ति सम्भव है । इसीलिये कार्यात्ययाधिकरण में (४.३.१०) स्पष्ट किया है कि ब्रह्मलोक में जिन्हें सम्यग्दर्शन हो जाता है, वे ही परम पद पाते हैं । वहीं भाष्यकार ने कहा है 'न ह्यज्ञसैव गतिपूर्विका परप्राप्तिः संभवति ।' इसलिये अनावृत्तिसूत्र में भी कार्यब्रह्मलोक में आत्मविज्ञानलाभ की अपेक्षा से ही देवयान से गये साधकों की अपुनरावृत्ति का वर्णन है । अतएव आचार्य ने भी वहाँ भाष्य में कहा है 'सम्यग्दर्शनविध्वस्त-तमसां तु नित्यसिद्धनिर्वाणपरायणानां सिद्धैवानावृत्तिः, तदाश्रयणेनैव हि सगुणशरणानामपि अनावृत्तिसिद्धिः' । यहाँ 'तदाश्रयणेन' से 'ज्ञानाश्रयणेन' समझना चाहिये । इस प्रकार अनावृत्तिरूप कैवल्य के प्रदर्शन से परमात्मा में ही उपसंहार है क्योंकि कैवल्य केवल परमात्मरूप है । अतः उपक्रमोपसंहार की एकवाक्यता से शास्त्रतात्पर्य अद्वितीय परम शिव में ही निश्चित होता है ।

२. ब्रह्म का प्रतिपादन तो समग्र ग्रंथ में होने से अभ्यास तो अतिसुलभ है । यह नहीं कह सकते कि कारणरूप से प्रदर्शन होने से सविशेष का ही अभ्यास है; क्योंकि सिद्धांत में निर्विशेष ही माया से कारण स्वीकारा गया है तथा सविशेष निर्विशेष से पृथक् है नहीं । इसीलिये सर्वोपेताधिकरण में (२.१.३०) ब्रह्म की विचित्रशक्तिमत्ता बतायी है । शक्ति भी माया है यह विकरणत्वाद् आदि (२.१.३२) सूत्र से वहीं स्पष्ट है । वहीं भाष्य है 'प्रतिषिद्धसर्वविशेषस्यापि ब्रह्मणः सर्वशक्तियोगः सम्भवति' । एवं च ब्रह्म ही प्रपंचकारण है यह बताने वाले सारे अधिकरण वस्तुतः शुद्ध ब्रह्मपरक ही हैं, अतः अभ्यास भी अद्वितीय में है ।

३. शास्त्रयोन्यधिकरण (१.१.३) अपूर्वता बता रहा है । शास्त्र के बिना परमेश्वर जाना नहीं जाता । इसी से आचार्य ने सावधारण प्रयोग किया है 'शास्त्राद् एव प्रमाणाज्जगतो जन्मादिकारणं ब्रह्माधिगम्यते' । ऐसे ही 'अशब्दम्' (१.१.५), 'तर्काप्रतिष्ठानाद्' (२.१.११) इत्यादि से भी अनन्यलभ्यता स्पष्ट की गयी है ।

४. विद्या की फलवत्ता पुरुषार्थाधिकरण में (३.४.१) व्यक्त है । परमात्मा स्वयं फल है यह भी 'मुक्तः प्रतिज्ञानात्' (४.४.२) में निवेदित है क्योंकि वेद ने स्वरूपनिष्पत्ति से भिन्न मोक्ष नहीं माना है । इसीलिये अविभागाधिकरण में (४.४.२.४) मुक्त का परब्रह्म से अत्यंत अभेद सिद्ध किया है । अतः ब्रह्म स्वयं फल है । स्वयं भगवान् भाष्यकार ने 'ब्रह्मैव मुक्त्यवस्था' ऐसा कहा है (३.४.५२)

५. अर्थवाद भी बहुतेरे मिलते हैं । कम्पनाधिकरण में (१.३.३९) सूर्यादि भी महेश्वर से भयभीत बताये हैं, इससे महादेव का सामर्थ्यातिशय पता चलता है । सर्वापेक्षाधिकरण द्वारा (३.४.२६) सभी कर्म मोक्षोपाय बताये हैं अतः मोक्ष की सर्वाधिक महत्ता ख्यापित होती है । 'विधिर्वा' (३.४.२०) से संन्यास का विधान मोक्ष को समस्त कर्मों के फलों से भी श्रेष्ठ कह रहा है । जिन कर्मों के लिये कहा है कि बिना भोगे अनन्त कल्पों में भी वे क्षीण नहीं होते उनका अश्लेष व विनाश (४.१.१३) बताना विद्या की स्तुति है । सृष्टि, प्रलयादि अर्थवाद भी उपलब्ध हैं : जन्मादि सूत्र में (१.१.२) सृष्ट्यादि कहे हैं । गुहाधिकरण में (१.२.११) प्रवेश बताया है । 'परात्तु तच्छ्रुतेः' (२.३.४१) द्वारा संयमन का प्रतिपादन है । वहाँ भाष्यकार ने स्पष्ट किया है 'ईश्वरात्तदनुज्ञया कर्तृत्वभोक्तृत्वलक्षणस्य संसारस्य सिद्धिः, तदनुग्रहहेतुकेनैव विज्ञानेन मोक्षसिद्धिः' ।

६. उपपत्ति की प्राप्ति शास्त्र में सरलता से है । यदि अबाधितत्व ही उपपत्ति हो तब तो चतुर्थ सूत्र में ब्रह्म में शास्त्रसमन्वय दिखाकर द्वितीयाध्याय तक मतांतरकृत आक्षेप परिहृत कर सूत्रकार ने परमेश्वर को अबाधित घोषित किया ही है । 'सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात्' (१.२.१) भी उसे अबाधित उपपन्न कर रहा है । किम्बहुना, 'एतेन सर्वे व्याख्याताः' (२.३.८) द्वारा बाधकमात्र के बाध से परमशिव का अबाध निःशंक है ।

इससे अतिरिक्त युक्तियाँ भी ब्रह्म के विषय में सूचित हैं । अत्रधिकरण में (१.२.९) श्रुतार्थापत्ति का स्पष्ट निरूपण है । भोक्त्रापत्त्यधिकरण

में (२.१.१३) 'लोकवत्' कह कर समुद्र-तरंग आदि लौकिक उदाहरण द्वारा भोक्तृभोग्यभाव का उपपादन करते हुए अद्वितीय ब्रह्म का समर्थन है । आरम्भणाधिकरण में (२.१.१४) पुष्ट युक्तियों से जगत्कृत द्वैत की संभावना का मूलोच्छेद है ।

ऐसे ही दृष्टान्त भी अनेक दिये गये हैं । 'आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि' (२.१.२८) में स्वप्न दृष्टांत से समझाया है कि अभिन्न ब्रह्म विभिन्न जगत् का हेतु है । कार्य-कारण से अन्य नहीं होता इसे कपड़े के दृष्टांत से (२.१.१९) स्पष्ट किया है । आत्मा कर्ता व अकर्ता दोनों हैं यह बढ़ई के उदाहरण से (२.३.४०) उपपादित है । एक महादेव नाना जीवों के रूप में उपलब्ध है । इसमें जल में पड़े सूर्यप्रतिबिम्ब को दृष्टांत बनाया है (३.२.१८) । आत्मभेद की औपाधिकता में प्रकाश दृष्टांत है (३.२.२५) ।

निर्वचन द्वारा प्रतिपादन रूप उपपत्ति भी सूत्रों में मिलती है । ज्योतिश्चरणाधिकरण में (१.१.२४) 'त्रिपाद्' नाम के निर्वचन से ब्रह्म-प्रत्यभिज्ञा का समर्थन है । 'द्युभ्वाद्यायतनम्' (१.३.१) में आत्मा, सद्, ब्रह्म आदि शब्दों के निरुक्त की दृष्टि से ही उन्हें ब्रह्मपरक कहा है । ऐसे ही ईशान-पद का निर्वचन (१.३.२४) परमेश्वरस्वरूप का बोधक है । 'आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात्' (१.३.४१) में 'आ समन्तात् काशते' यह व्युत्पत्ति सूचित है जिससे स्वयम्प्रकाश समर्थित है । 'प्रकाशश्च' इत्यादि सूत्र में (३.२.२५) भी निर्वचन मानकर ही प्रकाशपद ब्रह्मपरक है । अतः इस रीति से भी ब्रह्म को शास्त्र में समझाया गया है ।

एवं च छहों लिंगों से ब्रह्मसूत्रों का तात्पर्य अद्वितीय शिव निश्चित है । इसका व्याख्यान होने से सूत्रभाष्य का भी यही तात्पर्य है । इसी तात्पर्य के तत्तद् अंश तत्तद् अधिकरणों में प्रतिपादित हैं जिनका मंत्रराज की व्याख्या में अंतर्भाव सुबोधिनीकार दिखा रहे हैं—

'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इति प्रथमाधिकरणसूत्रम् । तस्यायमर्थः—अथेति साधन- चतुष्टयसम्पत्त्यनन्तरम्; अत इति यतो

ब्रह्मातिरिक्तत्वेन भासमानस्य अध्यस्ताऽनित्यप्रपञ्चस्य मिथ्यात्वात् तदधिष्ठानभूतं ब्रह्मैव सत्यम् अतो ब्रह्मज्ञानार्थं विचारः कर्तव्य इति प्रथमाधिकरणार्थ उक्तः । तद्विचारार्थमध्यासश्च निरूपितः । स च प्रथमव्याख्यानेऽन्तर्भूतः । तत्र 'त्यजामीदमिदं सर्वम्' (श्लो. २) इति इदन्ताविषयस्य अध्यस्तसर्वप्रपञ्चस्य निषेधद्वाराऽखण्डानन्दैकस्वरूपस्य ब्रह्मण एव सत्यत्वेन विचार्यत्वनिरूपणात् ।

शास्त्र का प्रारंभ सूत्र है 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' । अथ का अर्थ है साधनसम्पन्न होने के बाद । साधन विवेकादि प्रसिद्ध हैं । अतः का भाव है कि क्योंकि परमात्मा से भिन्न होकर भासने वाला अनित्य संसार अध्यस्त अतः मिथ्या है व उसका अधिष्ठान ब्रह्म ही सत्य है, इसलिये ब्रह्मज्ञान के लिये विचार करना चाहिये । इसी विचार के मार्ग को प्रशस्त करने के लिये आचार्य ने अध्यासभाष्य में अब्रह्म के मिथ्यात्व को स्पष्ट किया है । इस सूत्र का अभिप्राय मंत्रराज के प्रथम व्याख्यान में समाविष्ट है । वहाँ 'यह सब छोड़ता हूँ' कहकर इदन्तास्पद सारे ही अध्यस्त प्रपंच के त्याग से एकमात्र अखण्ड स्वरूप ब्रह्म ही सत्य होने से विचार्य है यह निरूपण है । अतः अनात्मबाधपूर्वक आत्मविचार की स्पष्ट सूचना है ।

अथ प्रथमाधिकरणे ब्रह्म जिज्ञासितव्यमित्युक्तम् । किंलक्षणं पुनस्तद् ब्रह्म ? इत्याकांक्षायां द्वितीयाधिकरणसूत्रम्—'जन्माद्यस्य यतः' इति । अस्य जगतो नामरूपाभ्यां व्याकृतस्य कर्तृभोक्तृसंयुक्तस्य मनसाऽप्यचिन्त्यरचनारूपस्य जन्मादि जन्मस्थितिभङ्गं यतः सर्वज्ञात् सर्वशक्तेः कारणाद् भवति तद् ब्रह्म इति वाक्यशेषः; इति द्वितीयाधिकरणार्थः । स च षष्ठव्याख्यानेऽन्तर्भूतः, तत्र सकलजगत्कारणीभूतमायेशत्वस्य निरूपणात् ।

प्रथम अधिकरण में जिस ब्रह्म का विचार कर्तव्य बताया वह किस लक्षण वाला है—यह बताने के लिये द्वितीय अधिकरण है । इसमें बताया है कि नाम-रूपों द्वारा—अर्थात् नाम व रूप इस प्रकार से—व्यक्त, एवं

कर्ता-भोक्ता जीवों से सम्बद्ध यह जगत्, जिसकी रचना का रूप हम मन से भी सोच नहीं सकते (बना सकने की तो बात ही क्या !), जिस सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् कारण से जन्म लेता है, स्थिति पाता और विलीन होता है वह ब्रह्म है । सूत्रार्थ प्रायः भाष्याक्षरों में ही सुबोधनीकार ने लिखा है । यह अधिकरण मंत्रराज के छठे व्याख्यान से संगृहीत है क्योंकि वहाँ सारे जगत् की कारणरूप माया का शासकत्व निरूपित है । शि-से उपाधिभूत कारण और व-से उपहित कारण स्पष्ट किये गये हैं । किं च वहीं (श्लो. १६) आनन्दरूप स्वरूपलक्षण भी प्रदर्शित है ।

द्वितीयाधिकरणे जगतः कारणं ब्रह्मेत्युक्तम् । तत्र हेतुभूतं तृतीयाधिकरणं—'शास्त्रयोनित्वाद्' इति । ऋग्वेदादिशास्त्रस्य अनेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य देवतिर्यङ्मनुष्यवर्णाश्रमादिव्यवहारहेतोः सर्वार्थविद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनित्वात् कारणत्वात् । अस्ति हि पुरुषनिःश्वासवत् तस्मान्महतो भूताद् योनेः अस्य शास्त्रस्य सम्भवः प्रादुर्भावः स्मरणमिति यावत् । अथवा शास्त्रं योनिः कारणं यस्य ब्रह्मणो यथावत् स्वरूपाधिगमे । इति तृतीयाधिकरणार्थः । स च षष्ठव्याख्यानेऽन्तर्भूतः । तत्र 'अस्मिञ्छेते जगत् सर्वम्' (श्लो. १४) इत्यादिना सर्वकारणत्वस्य, तथा 'यस्मादानन्दरूपस्त्वं देवैर्वेदैर्निगद्यसे' (श्लो. १६) इति शास्त्रयोनित्वस्य उभयविधस्य निरूपणात् ।

दूसरे अधिकरण में जगत् का कारण ब्रह्म बताया । इसी बात को सहेतुक सिद्ध करता है तीसरा अधिकरण । शास्त्र का कारण होने से ब्रह्म ही जगत्कारण संभव है । ऋग्वेदादि शास्त्र अनेक विद्यास्थानों से संयुक्त हैं । चतुर्दश विद्यास्थान प्रसिद्ध हैं व सभी वेद में प्रतिष्ठित हैं । देवता, पशु, मनुष्य—इनके तथा विशेषतः वर्णाश्रमादि के व्यवहारों का एकमात्र आधार शास्त्र है । वही सब ज्ञातव्य पदार्थों का प्रकाशक है । शास्त्र ही मानो सर्वज्ञ है । उसका भी कारण परमशिव है इसलिये वही जगत्कारण है । 'श्रुतेः' इत्यादि से उदयनादि ने भी शास्त्रयोनित्व से ईश्वरोपपत्ति दिखाई है । जैसे पुरुष निःश्वास छोड़ता है बिना किसी यत्न के, वैसे ही उस

महान् विद्यमान कारण से इस शास्त्र का प्रकटीकरण हुआ है अर्थात् उसे ही पूर्वकल्पीय शास्त्र का अविकल स्मरण है । यह एक वर्णक है । वर्णकांतर में सूत्र का अर्थ है—ब्रह्म का स्वरूप यथावत् समझने के लिये शास्त्र ही कारण बनता है । इन दोनों भावों को भी छठे व्याख्यान ने व्यक्त किया है । 'इसमें सारा जगत् सोता है' (श्लो. १४) कहकर सारे जगत् के अंशरूप शास्त्र का भी कारण शिव बता दिया और 'क्योंकि देवताओं और वेदों द्वारा आप आनन्दरूप कहे जाते हैं' (श्लो. १६) कहकर शास्त्र शिवप्रतिपादक है यह भी बता दिया ।

तृतीयाधिकरणे ब्रह्मणः शास्त्रयोनित्वमुक्तम् । तत्र हेतुत्वेन चतुर्थधिकरणमाह—'तत् तु समन्वयाद्' इति । तत् तु ब्रह्म सर्वशक्ति जगदुत्पत्तिस्थितिलयकारणं वेदान्तशास्त्रादवगम्यत इति कथम् । समन्वयात्—सर्वेषु हि वेदान्तेषु वाक्यानि तात्पर्येणैव तस्य अर्थस्य प्रतिपादकत्वे समनुगतानि । तान्येवाह—'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाऽद्वितीयम्' (छां. ६२.१) इत्यादीनि । यस्मात् सर्ववेदान्तानां ब्रह्मण्येव समन्वयः तस्मात् सर्वजगज्जन्मादिकारणं सर्वज्ञं सर्वशक्ति च ब्रह्मैवेति चतुर्थाधिकरणार्थः । स च षष्ठव्याख्यानेऽन्तर्भूतः । तत्र 'तद्वानाच्छिव इत्युक्तं कारणं ब्रह्म तत्पराः ! (श्लो. १४) इति ब्रह्मण एव सर्वकारणत्वनिरूपणात् ।

तीसरे अधिकारण में ब्रह्म को शास्त्रयोनि कहा । इसमें कारण चौथा अधिकरण बताता है । वह परमेश्वर ही वेदान्तबोध्य है क्योंकि वेदांतवाक्यों का तात्पर्य उसी के प्रतिपादन में है—यह सूत्रार्थ है । अतः वेदान्तवाक्यों का तात्पर्य शिव है, यह संक्षेप में दिखाया जा रहा है—

१. **ईशोपनिषत्**—'ईशावास्यम्' यों प्रथम मंत्र में उपक्रम बाधावधिभूत परमेश्वर से है तथा उपसंहार भी आठवें मंत्र में शिववर्णन से ही है । आठवें मंत्र के बाद तो कर्मोपास्तिप्रसंग है । यह काण्वापाठानुसार समझना चाहिये । यदि शाखान्तरानुसार समझना हो, तो 'खम्ब्रह्म' में उपसंहार स्पष्ट ही है । 'अनेजदेकम्' (४) इत्यादि अभ्यास है । 'नैनद् देवा आप्नुवन्' (४) यह अपूर्वताप्रदर्शन है । 'को मोहः कः शोकः' (७) से फल और 'कुर्वन्नेव' (२) से ज्ञानी को कर्मानुमति दे कर ज्ञान की स्तुति है । 'तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति' (४) यह उपपत्ति श्रुति ने दी है । अतः इस उपनिषत् का तात्पर्य शिव ही है ।

२. **केनोपनिषत्**—'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्' (१.१) कहकर द्वितीय श्रोत्रपद आत्मबोधक होने से परमात्मा में उपक्रम है । 'प्रतिबोधविदितम्' (२.४) द्वारा हर बोध में अनावृत होते चेतन में ही उपसंहार है । 'तदेव ब्रह्म' (१.४) आदि अभ्यास स्पष्ट है । 'न तत्र चक्षुर्गच्छति' (१.३) इत्यादि अपूर्वता कही है 'प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति' (२.५) द्वारा फल कहा गया है । 'ब्रह्म ह' (खं. २) इत्यादि कथा अर्थवाद है । 'अविज्ञातं विजानताम्' (२.३) इत्यादि उपपत्ति है क्योंकि इसमें अदृश्यत्व और स्वप्रकाशत्व समझाया गया है । एवं च केनोपनिषत् भी हैमवती के आराध्य का ही प्रतिपादन करती है ।

३. **कठोपनिषत्**—'येयं प्रेते' (१.२०) में सामान्यतः और 'अन्यत्र धर्मात्' (२.१४)में विशेषतः उपक्रम आत्मविषयक है । 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः' (६.१६) इत्यादि से अमृत ब्रह्म में ही उपसंहार है । 'न जायते' (२.१८) 'अशरीरं शरीरेषु' (२.२१) आदि अभ्यास है । 'नैव वाचा न मनसा' (६.१२) आदि अपूर्वता बतायी है । 'विमृत्युः' (६.१८) आदि से मोक्षरूप फल स्पष्ट है । 'मृत्युप्रोक्तम्' (३.१६) इत्यादि बहुतेरे अर्थवाद हैं । 'येन रूपम्' (४.३) इत्यादि नाना उपपत्तियाँ उपलब्ध हैं । अतः यमशिक्षक महाकाल ही कठोपनिषद् के प्रतिपाद्य हैं ।

४. **मुण्डकोपनिषत्**—'अथ परा' (१.१.५) यों अक्षर ब्रह्म-बोधक विद्या से ही उपक्रम तथा 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (३.२.९) यों परब्रह्म में ही समापन है । 'आविः संनिहितम्' (२.२.१) 'बृहच्च तद् दिव्यम्' (३.१.७) आदि अभ्यास एवं 'न चक्षुषा गृह्यते' (३.१.८) इत्यादि ब्रह्म की ही अपूर्वता का वचन है । फलकथन 'तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति' (३.२.९) स्पष्ट है । 'यथा सुदीप्तात्पावकाद्' (२.१.१)

इत्यादि अर्थवाद है । 'अरा इव रथनाभौ' (२.२.६) 'द्वा सुपर्णा' (३.१.१) 'परीक्ष्य लोकान्' (१.२.१२) आदि उपपत्तियाँ भी ब्रह्मबोधन के लिये हैं । इस तरह प्रणवगम्य शिव ही मुण्डकोपनिषत् की तात्पर्यभूमि है ।

५. **प्रश्नोपनिषत्**—मन्त्रात्मक मुण्डक की ब्राह्मणात्मक व्याख्या होने से इसका भी वही तात्पर्य निश्चित है जो मुण्डक का है । अथापि; 'परं ब्रह्मान्वेषमाणाः' (१.१) यों मुखतः परब्रह्म से प्रारंभ है तथा 'परं ब्रह्म वेद नातः परमस्ति' (६.७) यों परम ब्रह्म में ही समाप्ति है । 'अच्छायमशरीरमलोहितं शुभ्रमक्षरम्' (४.१०), 'शान्तमजरममृतमभयं परं च' (५.७) आदि परम तत्त्व का ही अभ्यास मिलता है । 'नाऽहमिमं वेद' (६.१) से वह तत्त्व अपूर्व कहा गया है । 'अकलोऽमृतो भवति' (६.५) यह फल बताया गया है । 'स ईक्षाञ्चक्रे' (६.३) आदि अर्थवाद एवं 'यथेमा नद्यः' (६.५) इत्यादि उपपत्ति है । अतः परम अद्वितीय अक्षर पुरुष ही प्रश्नोपनिषत् का भी तात्पर्यार्थ है ।

६. **माण्डूक्य**—इस उपनिषत् का आरंभ ही 'अयमात्मा ब्रह्म' (२) इस महावाक्य से है । 'शिवोऽद्वैत' (१२) कहकर स्पष्ट उपसंहार है । 'नान्तःप्रज्ञम्' (७) 'अव्यवहार्यः' (१२) इत्यादि अभ्यास है । 'अदृष्टम्' (७) से स्पष्टतः व 'उपव्याख्यानम्' (१) से अर्थाद् अपूर्वता कही गयी है । प्रणव के अंगों की उपासना का जो फल कहा है वह प्रधानज्ञान की प्रशंसा अतः अर्थवाद है । 'संविशत्यात्मनाऽऽत्मानम्' (१२) द्वारा फल बताया गया है । आत्मा के चार पादों का वर्णन ही उपपत्ति समझनी चाहिये । अतः प्रपंचोपशम शिव माण्डूक्य तात्पर्य हैं इसमें सन्देह नहीं ।

७. **तैत्तिरीयोपनिषत्**—इसका भी उपक्रम है 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (२.१) से और उपसंहार है 'स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः' (२.८) में। 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' (२.५) 'तत्सत्यमित्याचक्षते' (२.६), 'रसो वै सः' (२.७) आदि बहुशः अभ्यास है । 'यतो वाचो निवर्तन्ते' (२.९) द्वारा अपूर्वता तथा 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' (२.१) द्वारा फल बताया गया

है । 'तस्माद्वा एतस्माद्' (२.१) 'सोऽकामयत' (२.६) तथा आनन्दमीमांसा (२.८) अर्थवाद हैं । पंचकोशों का उपस्थापन तथा अनुप्रश्न (२.६) उपपत्ति है । अतः यह भी उपनिषत् परब्रह्मपरक ही है । तैत्तिरीयोपनिषत् की प्रथम वल्ली तो उच्चारण व कुछ सकर्मोपासनाओं के विधान में गतार्थ है । अतः द्वितीय वल्ली का स्वतंत्र प्रारंभादि स्वीकारना पड़ता है । तृतीय वल्ली में तो स्पष्ट ही ब्रह्मज्ञान का प्रश्न, उत्तर तथा विवेकक्रम से परमानन्दप्राप्ति का वर्णन होने से उसका तात्पर्य निश्चित करना सरल है ।

महानारायण भी तैत्तिरीय ही है । उसका उपक्रम है 'अम्भस्य पारे भुवनस्य मध्ये' (१) से अतः व्यापक अधिष्ठान से ही आरंभ है । समाप्ति में भी कहा है 'आप्नोति तस्माद् ब्रह्मणो महिमानम्' (८०) अतः ब्रह्म से अभिन्न महिमा (दृष्टव्य छां. ७.१४) में ही समापन है । 'तदेव ब्रह्म परमं कवीनाम् (२) 'अणोरणीयान्' (१२) 'शाश्वतं शिवमच्युतम्' (१३) आदि अभ्यास है । 'न सन्दृशे तिष्ठति रूपमस्य' (३) आदि से अपूर्वता कही है । 'पश्यति वीतशोकः' (१२) 'परिमुच्यन्ति सर्वे' (१२) 'बन्धनाद् मृत्योर्मुक्षीय' (५६) आदि द्वारा फल बताया गया है । 'यतः प्रसूता जगतः प्रसूतिः' (१) 'सप्त प्राणाः प्रभवन्ति' (१२) 'सहस्रशीर्षं देवम्' (१३) 'ईशानः सर्वविद्यानाम्' (२१) आदि अर्थवाद सुलभ है । 'स ओतः प्रोतश्च विभुः प्रजासु' (३) 'अजामेकाम्' (१२) 'ये·····पाशाः·····तान्यज्ञस्य' (५७) 'कामःकर्ता नाहं कर्ता' (६१) आदि उपपत्तियाँ हैं । इस कारण से महानारायण का तात्पर्य भी शिवतमरस वाले महादेव में ही सिद्ध है ।

८. **ऐतरेयोपनिषद्**—'आत्मा वा इदमेक एव' (१.१) से उपक्रम तथा 'प्रज्ञानं ब्रह्म' (३.३) से उपसंहार है । 'कथं न्विदं मदृते स्यात्' (१.३.११) 'तमिन्द्रं सन्तम्' (१.३.१४) आदि अभ्यास है । 'कोऽयमात्मेति' (३.१) द्वारा अपूर्वता प्रतिबोधित है । 'अमृतः समभवत्' (३.४) फलकथन है । 'स इमाँल्लोकानसृजत' (१.१.२) 'पुरुषो ह वा अयमादितो गर्भः' (२.१) आदि अर्थवाद है । 'तस्य त्रय आवसथाः' (१.३.१२) 'येन वा पश्यति' (३.१) इत्यादि उपपत्ति है । एवं च ऋग्वेदीय ऐतरेय का तात्पर्य भी अद्वितीय ब्रह्म में है ।

कौषीतकी ऋग्वेदीय ब्राह्मणोपनिषत है । उसमें प्रथमाध्याय तो देवयानमार्गादि का प्रतिपादक है व द्वितीयाध्याय में मुख्यतः प्राणविद्या बतायी है । तृतीयाध्याय में ब्रह्मविद्योपदेश है । वहाँ 'मां विजानीहि' (३.१) इस प्रकार पराभिन्न प्रत्यगात्मा से उपक्रम है । अन्त में भी 'सम आत्मेति विद्यात्' यों ईश्वराभिन्न आत्मा को बताया है । 'प्रज्ञात्मा' (३.२) 'वक्तारं विद्यात्' (३.८), 'आनन्दोऽजरोऽमृतः' (३.९) आदि अभ्यास है । 'विजानीहि' (३.१) कहकर आत्मा की अज्ञाततारूप अपूर्वता स्पष्ट की है । 'स यो मां विजानीयाद् नास्य केनचन कर्मणा लोको मीयते' (३.१) से फल कहा है । 'त्रिशीर्षाणं त्वाष्ट्रमहनम् (३.१) 'एष लोकपालः' (३.९) आदि अर्थवाद है । 'प्राण एव प्रज्ञात्मा' (३.३) 'प्रज्ञायां सर्वाणि भूतान्येकी भवन्ति' (३.४) 'प्रज्ञया वाचं समारुह्य' (३.६) 'यथा रथस्यारेषु नेमिरर्पिता' (३.९) आदि उपपत्तियों से भी ब्रह्मबोध कराने में ही उपनिषत्तात्पर्य है ।

चतुर्थ अध्याय में 'ब्रह्म ते ब्रवाणि' (४.१) एवं 'व्येव त्वा ज्ञपयिष्यामि' (४.१८) इस प्रकार ब्रह्म में उपक्रम है । दो जगह उपक्रम इसलिये कि पहले बालाकि ने परब्रह्म का उपदेश देने की प्रतिज्ञा की व जब वह सफल नहीं हुआ तो अजातशत्रु ने उसी परब्रह्म के उपदेश की प्रतिज्ञा की । उपसंहार में भी ब्रह्मज्ञान ही बताया है 'स यदा विजज्ञौ' (४.२०) । 'यो वै बालाके एतेषां पुरुषाणां कर्ता यस्य वैतत्कर्म स वै वेदितव्यः' (४.१८) 'पुरुषोऽशयिष्ट यत्रैतदभूद्यत एतदागात्' (४.१९) आदि अभ्यास है । 'एतावन्नु ३ बालाकि ? इति । एतावद्धीति' (४.१८) से अपूर्वता समझायी है । 'सर्वेषां भूतानां स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्येति य एवं वेद' (४.२०) से फल कहा है । 'एष प्राज्ञ आत्मा इदं शरीरमनुप्रविष्टः' (४.१९) से अर्थवाद है । सुप्तपुरुष-उत्थापन प्रसंग, नाडीविद्या एवं श्रेष्ठिदृष्टान्त उपपत्तियाँ हैं । अतः ऋग्वेदीय कौषीतकी उपनिषत् का भी तात्पर्य ब्रह्म ही सिद्ध होता है ।

९. **छान्दोग्योपनिषत्**—इस उपनिषत् के अन्त्य तीन अध्याय ही मुख्यतः ब्रह्मोपदेशक हैं अतः उन्हीं का तात्पर्यावधारण अपेक्षित है । तात्पर्य हर

उपदेश का ही समझा जा सकता है । ग्रंथ में अनेक उपदेश हों तो सबको ग्रंथत्वेन एक मानकर ग्रंथमात्र का तात्पर्य नहीं निकाल सकते । यद्यपि सब उपदेशों का परस्पर भी संबंध होता ही है अतः मुख्य-अवान्तरभेद से तात्पर्यव्यवस्था हो सकती है तथापि हर प्रसंग का अपना तात्पर्य तो रहता ही है व उसे समझना आवश्यक होता है अन्यथा साधनमार्ग अवरुद्ध रह जाता है । मुख्यतात्पर्य का लक्षण अनुभूतिस्वरूपाचार्य ने प्रमाणमाला की टीका में यह बताया है 'निरुपाधिकशेषिबुद्धिफलत्वं महातात्पर्यम् ।' इसमें दृष्टांत सगुणोपासनावाक्यों का दिया है जिनका महातात्पर्य अद्वितीय के ज्ञान में है । 'निरुपाधिक' का भाव है कि प्रतिपाद्य शेषी हर दृष्टि से शेषी ही होना चाहिये, किसी प्रतिपाद्य की अपेक्षा शेष न हो । सगुणवाक्य तो 'तपसा' (बृ. ४.४.२२) आदि श्रुति से 'भक्त्या मामभिजानाति' (मी. १८.५५) आदि स्मृति से और सर्वापेक्षादिन्याय से (३.४.२६) ब्रह्मज्ञान के शेषभूत उपासनादि के प्रतिपादक हैं, अतः उनका महातात्पर्य उसी में है, अवांतरतात्पर्य उपासनादि में। अवान्तरतात्पर्य का भी उन्हींने स्वरूप वहीं कहा है 'प्रधानबुद्धिफलत्वाऽविरोधेन अर्थान्तरबुद्धिफलत्वम् अवान्तरतात्पर्यम् ।' उदाहरण दिया है गोदोहनवाक्य का । वह गोदोहनकी कर्तव्यता भी बताता है पर एतावता महातात्पर्य जो दर्शपूर्णमास की कर्तव्यता, उसका विरोध नहीं कर पाता, बल्कि उसका सहायक ही बनता है । इसी से मधुसूदनस्वामी ने कहा है 'महातात्पर्यविषय-सिद्ध्युपाये हि अवान्तरतात्पर्यमिति सर्वमतसिद्धम्' (अ.सि.पृ. ६९३) । एवं च अवान्तरतात्पर्य होते हुए ही महातात्पर्य बना रहता है । लघुकौमुदी में गौडस्वामी ने अत एव घोषणा की है 'मन्मते सर्वश्रुतीनां साक्षात् परम्परया वा शुद्धब्रह्मपरत्वम्' (ल.च.पृ. ८२३) । कहा जा सकता है कि मुख्य ही तात्पर्य मानना होगा, गौण को तात्पर्य ही नहीं मानना चाहिये क्योंकि एक के अनेक शेषी मानना उचित नहीं । इस प्रकार वाक्यभेद की प्राप्ति पर पूर्वोक्त स्थल पर अनुभूतिस्वरूपाचार्य ने ही बताया है कि श्रोता व प्रयोजन विभिन्न होने से अनेक तात्पर्य मानना संगत है व यदि इसे वाक्यभेद मानें तो भी वह दोषावह नहीं क्योंकि सप्रयोजन है : 'एकार्थस्य वाक्यस्य पुरुषभेदे प्रयोजनभेदात् तात्पर्यभेदोपपत्तेः ।' यदि कथंचित्

अवांतर में तात्पर्य न मानने का ही आग्रह हो तो भी अवान्तर अर्थ की प्रामाणिकता तो अखण्डित ही रहेगी और इस प्रकार उत्पन्न प्रमा उस कृत्य आदि में प्रेरित कर देगी । जिसका जहाँ तात्पर्य नहीं होता वह उस विषय में अप्रमाण नहीं हो जाता । यदि ऐसा होवे तो क्योंकि विशिष्ट में तात्पर्य वाले वाक्य का विशेषण में तात्पर्य नहीं इसलिये विशेषण के विषय में वह अप्रमाण होगा और फलतः विशिष्ट की प्रमा का उत्पादक बन नहीं पायेगा । अतः बिना तात्पर्य के भी प्रामाण्य स्वीकारना पड़ता है । यह बात भामती में (पृ. २७५ न्या. नि.) स्पष्ट की है । इसलिये अवांतरतात्पर्य न मानने पर भी उन वाक्यों से ज्ञात वस्तुओं की प्रातिस्विक साधनता स्थित ही रहती है । अवान्तरत्व का निश्चय सन्दंशन्याय से कर सकते हैं । जिस प्रसंग के पूर्वोत्तर प्रसंगों में शेषिविषेश के अंग विहित हों वह प्रसंग सन्दंश के अन्तर्गत आकर अवान्तर हो जायेगा । हमारे आचार्यचरण तो ऋग्वेद के आरंभ में पुरोहित, देव, ऋत्विक्, होता व फलप्रद—सभी परमात्मरूप बताये गये होने से वेद का उपक्रम अद्वितीय परमेश्वर में तथा अंत्य वेद अथर्व के अन्तभाग उपनिषत् के समापन में 'शिव एको ध्येयः शिवंकरः सर्वमन्यत् परित्यज्य' (अथर्वशिखा. २) एकमात्र अर्थात् अद्वितीय शिव के प्रतिपादन से सारे वेद का उपसंहार भी उसी परमेश्वर में होने से इससे अतिरिक्त जो कुछ भी कहा है वह सब अवान्तरप्रसंग ही है—ऐसा समझाते हैं । इस दृष्टि से छांदोग्य का प्रारंभ प्रणव रूप उद्गीथ से हे । प्रणव ईश्वर का वाचक है ही । समापन भी आकाशाख्य ब्रह्म से है । अतः मध्यस्थ उपासनादि का महातात्पर्य ईश्वर में व अवांतरतात्पर्य तत्र तत्र हो जाता है । वस्तुतस्तु अवान्तरतात्पर्यकत्व का अभिप्राय है अन्यशेषतया प्रमित-प्रतिपादकत्व । अतः सन्दंश के अभाव में भी क्योंकि श्रुत्यादि से उपासनादि ज्ञानार्थ प्रमित हैं इसलिये उनमें वाक्यों का अवान्तर तात्पर्य सिद्ध हो जाता है । अतः महातात्पर्यबोधक प्रसंगों का ही अवधारण कर लेना उचित है ।

षष्ठाध्याय में 'सदेव सोम्येदम्' (६.२.१) से उपदेश का आरंभ है तथा 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' (६.१६.३) से उपसंहार है । 'तत्त्वमसि' का तो नौ बार अभ्यास है ही । 'न वै नूनं भगवन्तस्त एतदवेदिषुः' (६.१.७) से अपूर्वता का ख्यापन है । 'अथ सम्पत्स्ये' (६.१४.२) द्वारा फल बताया है । 'तदैक्षत' (६.२.३); इत्यादि द्वारा अर्थवाद उपलब्ध है । 'यदग्ने रोहितं रूपम्' (६.४.१) 'यथा सोम्य पुरुषं गन्धारेभ्यः' (६.१४.१) आदि उपपत्ति भी अद्वितीय तत्त्व में है । इस प्रकार षष्ठाध्याय ब्रह्मपरक निश्चित हो जाता है ।

सप्तमाध्याय का आरंभ है 'तरति शोकमात्मवित्' (७.१.३) अतः केवल आत्मा के ज्ञान का प्रसंग ही वहाँ प्रसिद्ध है । उपसंहार में 'सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः' (७.२६.२) कहकर ज्ञानफलभूत अहंकारविलय ही बताया होने से शोकनिवर्तक निवृत्ताविद्य ब्रह्म ही बताया है । 'भूमा' (७.२३.१), 'स एवाधस्तात्' (७.२५.१), 'आत्मादेशः' (७.२५.२) अदि अभ्यास है । 'मन्त्रविदेवास्मि नात्मवित्' (७.१.३) द्वारा अपूर्वता प्रतिपादित है । 'आत्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराड् भवति' (७.२५.२), 'तमसः पारं दर्शयति' (७.२६.२) आदि फल बताया है । 'येऽन्यथाऽतो विदुरन्यराजानः' (७.२५.२) आदि से ब्रह्माऽज्ञान की निन्दा से ब्रह्मज्ञान की प्रशंसा होने से अर्थवाद है । 'स एवाधस्तात्' 'आत्मैवाधस्तात्' (७.२५.१-२) आदि उपपत्ति भी अद्वैत में है ।

अष्टमाध्याय में पराविद्या का आरंभ 'य आत्मा अपहतपाप्मा' (८.७.१) से किया है । उपसंहार में भी 'उत्तमः पुरुषा' (८.१२.३) से शुद्ध चेतन का प्रसंग है । 'एष आत्मा' (८.७.४, ८.८.३) आदि द्वारा पुनः पुनः उसी आत्मा का उपदेश है । देवता व असुर इससे अनभिज्ञ थे (८.७.२)—यह अपूर्वता है । 'प्रियाप्रिये न स्पृशतः' (८.१२.१) से फल एवं 'जक्षन् क्रीडन् रममाणः' (८.१२.३) आदि अर्थवाद है । आँख, उदशराव, स्वप्न आदि उपायों से उपदेश उपपत्ति है ।

अतः छान्दोग्य का तात्पर्य परमात्मा में निश्चित होता है ।

१०. **बृहदारण्यकोपनिषत्**—बृहदारण्यक में भी विभिन्न प्रसंग ब्रह्मविद्या के हैं । उदाहरणार्थ प्रथमाध्याय में ही 'आत्मैवेदम्' (१.४.१) से उपक्रम कर 'अहं ब्रह्मास्मि' (१.४.१०) में उपसंहार है । 'मदन्यद् नास्ति' (१.४.२) 'सर्वस्माद् अन्तरतरं यदयमात्मा' (१.४.८) आदि अभ्यास है । 'न स वेद (१.४.७) से समस्त भेददर्शियों में अप्रसिद्धिरूप अपूर्वता बतायी है । 'स एव तदभवत्' (१.४.१०) द्वारा फलकथन है । 'तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत' (१.४.७) आदि अर्थवाद एवं 'स एष इह प्रविष्टः' (१.४.७), 'तदेतत्प्रेयः' (१.४.८) आदि उपपत्ति है । क्योंकि प्रवेशवश जीवेशभेद का निरास होता है इसलिये यह उपपत्ति है ।

द्वितीयाध्याय के प्रथम ब्राह्मण की ब्रह्मपरता कौषीतकी के प्रसंग से ही स्पष्ट है । चतुर्थ ब्राह्मण में 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' (२.४.५) से उपक्रम तथा 'सर्वमात्मैवाभूत्' (२.४.१४) से अद्वितीय आत्मा में उपसंहार है । 'आत्मनो वा अरे दर्शनेन' (२.४.५) 'इदं सर्वं यदयमात्मा' (२.४.६) 'विज्ञानघन एव' (२.४.१२) आदि अभ्यास है । 'अत्रैव मा भगवान् अमूमुहद्' (२.४.१३) से अपूर्वता कही गयी है तथा 'इदं सर्वं विदितम्' (२.४.५) से फल कहा है । 'ब्रह्म तं परादात्' (२.४.६) 'अस्य महतो भूतस्य' (२.४.१०) आदि अर्थवाद है । 'स यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य' (२.४.७) 'स यथा सैन्धवखिल्यः' (२.४.१२) आदि उपपत्ति है ।

तीसरे अध्याय में तो 'ब्रह्मिष्ठ' याज्ञवल्क्य के उपदेश परमात्मबोधक हैं ही । चौथे से आठवें ब्राह्मण तक तो विशेष रूप से ब्रह्म का प्रतिपादन है । ऐसे ही चौथे अध्याय के आरंभ से ही याज्ञवल्क्य परमात्मोपदेश के विना उपदेश पूरा ही नहीं मान रहे हैं 'पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरतेति (४.१.२) । इसी क्रम में कूर्च ब्राह्मण आता है जिसमें प्रत्यगात्मा के विवेक से अभयप्राप्ति का संश्लिष्ट वर्णन है । तीसरा तो स्वयंज्योतिर्ब्राह्मण आत्मप्रतिपादक प्रसिद्ध ही है । उसी में विज्ञानमय पुरुष रूप से (४.३.७) जीव का प्रसंग लाकर अवस्थाव्यभिचारादि से विस्तृत प्रकार से पदार्थशोधन है तथा अविलुप्त दृष्टिरूप आत्मा का वर्णन है । आनन्दमीमांसा से मोक्ष का प्रतिपादन है ।

चतुर्थ ब्राह्मण की तृतीय ब्राह्मण से एकवाक्यता है । अतः 'कतम आत्मा' (४.३.७) यह उपक्रम चतुर्थ ब्राह्मण के लिये भी समान है । 'महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयः' (४.४.२५) से उपसंहार है । 'ज्योतिषां ज्योतिः' (४.४.१६) 'ब्रह्म पुराणमग्र्यम' (४.४.१८) 'एष सेतुः' (४.४.२२) आदि अभ्यास है । 'आत्मानं चेद् विजानीयात्' (४.४.१२) 'यदैतमनुपश्यति' (४.४.१५) 'अप्रमयम्' (४.४.२०) आदि अपूर्वता है । 'अभयं हि वै ब्रह्म भवति य एवं वेद' (४.४.२५) फलबोधन है । 'अनन्दा नाम ते लोकाः' (४.४.११) 'सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः' (४.४.२२) आदि अर्थवाद हैं । 'तद्यथाऽहिनिर्ल्वयनी' (४.४.८), 'य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः' (४.४.२२) आदि उपपत्ति है । पंचम ब्राह्मण तो ब्रह्मविद्या का निगमन ही है । अगले अध्याय खिलकाण्ड हैं । इस प्रकार बृहदारण्यक का तात्पर्य भी परम ब्रह्म में ही सिद्ध होता है ।

ऐसे ही श्वेताश्वतर में ब्रह्म-विचार से उपक्रम है (१.१) तथा निष्कल निष्क्रिय शान्त ब्रह्म में (६.१९) ही उपसंहार है । 'अमृताक्षरं हरः' (१.१०) 'यो देवोग्नौ' (२.१७) 'य एको जालवान्' (३.१) 'य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगात्' (४.१) 'विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः' (५.१) 'ज्ञः कालकालः' (६.२) आदि अभ्यास है । 'न च तस्यास्ति वेत्ता' (३.१९) 'अनीशया शोचति मुह्यमानः' (४.७) आदि अपूर्वता है । 'तेषां सुखं शाश्वतम्' (६.१२) आदि फल है । 'सहस्रशीर्षा' (३.१४) 'तदेवाग्निः' (४.२) 'घृतात्परम्' (४.१६) 'देवस्यैष महिमा तु लोके येनेदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम्' (६.१) आदि अर्थवाद है । 'ज्ञाज्ञौ द्वावजौ' (१.९) 'दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत्' (२.१५) 'सदा जनानां हृदये संनिविष्टः' (३.१३) 'अजामेकाम्' (४.५) आदि उपपत्तियाँ हैं । अतः इस उपनिषत् का अभिप्राय भी परम शिव ही है ।

समन्वयसूत्र के अर्थ में सुबोधिनीकार ने 'सर्वेषु हि वेदान्तेषु' कहा है । अतः स्मार्तप्रस्थान का भी तात्पर्यनिर्णय कर लेना उचित है । भगवान् का उपदेश 'अशोच्यान्' (२.११) आदि से प्रारंभ होकर 'मा शुचः' (१२.६६) में समाप्त होता है अतः अशोक आत्मा में तात्पर्य स्थिर होता है । 'नैनं छिन्दन्ति' (२.२३) 'बुद्धेः परतस्तु सः' (३.४२) 'प्रभुः साक्षी' (९.१८) 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि' (१३.२) आदि अभ्यास है । 'नाहं प्रकाशः

सर्वस्य' (७.२५) से अपूर्वता कही है । 'ब्रह्मैव तेन गन्तव्यम्' (४.२४) 'मामुपेत्य पुनर्जन्म न विद्यते' (८.१६), 'विमुक्तोऽमृतमश्नुते' (१४.२०) आदि फल बताया है । 'आश्चर्यवत्पश्यति' (२.२९) 'ज्ञानी त्वात्मैव' (७.१८) 'भिन्ना प्रकृतिरष्टधा' (७.४) 'मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते' (९.१०) 'हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' (१८.६१) आदि अर्थवाद है । 'नासतो विद्यते भावः' (२.१६) 'यथा सर्वगतं सौक्ष्म्याद्' (१३.३२) 'मत्स्थानि सर्वभूतानि' (९.४) 'अनादित्वाद्' । (१३.३१) इत्यादि उपपत्तियाँ हैं । एवं च स्मार्तप्रस्थान भी अद्वितीयतात्पर्यक ही है ।

अतः सूत्रकार ने ठीक ही संग्रह किया है 'समन्वयात्' । क्योंकि समस्त वेदान्तों का ब्रह्म में ही समन्वय है अर्थात् ब्रह्मबोधक होने पर ही उनकी योजना ऋजु होती है, इसलिये सारे जगत् के जन्मादि का कारण सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् ब्रह्म ही है । यही चतुर्थ अधिकरण का अभिप्राय है । यह भी छठे व्याख्यान में समाविष्ट है क्योंकि उसमें (श्लो. १४) ब्रह्म को कारण रूप से कहा गया है ।

एवं चतुःसूत्र्यां चतुर्भिरधिकरणैः ब्रह्मण एव सर्वज्ञत्वेन सर्वशक्तिमत्त्वेन जगत्कारणत्वेन च सर्वाधिष्ठानतया सत्यत्वे निश्चिते तद्विज्ञानार्थं विचारः कर्तव्य इति निरूपितं भवति । तत्र अन्यस्यापि कस्यचिज्जगत्कारणत्वं सम्भवति न वा ? इति संशयनिरासार्थं पञ्चमाधिकरणसूत्रम्— 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' इति ।

सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, जगत्कारण व सबका अधिष्ठान होने से ब्रह्म ही सत्य है अतः विचार कर उसका निश्चय कर्तव्य है । यह प्रथम चार अधिकरणों से स्थापित होने पर क्या अन्य भी कोई जगत्कारण संभव है या नहीं ?—इस शंका के समाधान के लिये पाँचवाँ अधिकरण उपस्थित हुआ जिसमें कहा है—ईक्षण के कारण अशब्द जगत् का हेतु नहीं है ।

ननु प्रधानस्य अनेकात्मकस्य परिणामसंभवाद् अनेकात्मकजगत्कारणत्वोपपत्तिः, मृदादिवद्; न असंहतैकात्मकस्य ब्रह्मणः ? इत्येवं प्राप्ते सूत्रम्—'ईक्षतेर्नाशब्दम्' इति । न सांख्यपरिकल्पितमचेतनं प्रधानं जगत्कारणं शक्यं वेदान्तेष्वाश्रयितुम्, यतः अशब्दं हि तत्, न जगत्कारणत्वेन वेदप्रतिपादितम् । कुतः प्रधानस्य अशब्दत्वम् ? ईक्षतेः, ईक्षितृत्वश्रवणात् कारणस्य ।

जगत् का कारण क्या है ? प्रश्न होने पर सांख्यवादी कहता है जगत् अनेकात्मक है अतः इसका कारण भी ऐसा ही होना चाहिये । अनेकात्मक मिट्टी आदि कारणों का घट, शराव आदि अनेकात्मक कार्य ही होता देखा जाता है अतः जगत् का कारण ऐसा ही मानना होगा । हमारे कपिलदेव ने प्रकृति या प्रधान को इस प्रकार का बताया है अतः वही जगकारण है, न कि किसी से मिलकर कुछ कर सकने में असमर्थ एकात्मक परमात्मा । इस सांख्यमत के निराकरण के लिये महर्षि बादरायण ने नाना श्रुतियों का आकलन कर सूत्र बनाया—'ईक्षण के कारण' इत्यादि । सूत्र का अभिप्राय है कि सांख्यों ने जिस अचेतन प्रधान की कल्पना कर रखी है वह जगत् का कारण वेदांतों में प्रतिपाद्य है ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि प्रधान श्रुतिसिद्ध नहीं है, केवल सांख्यों द्वारा ऊहित है । वेद ने जगत्कारणरूप से (या अन्य रूप से भी) प्रधान का प्रतिपादन नहीं किया है । ईश्वर का सहायक जो कुछ वेद ने बताया है वह माया से विलक्षण नहीं है । स्वतंत्र, सत्य आदि स्वरूप वाला प्रधान वेद में कहीं प्रतिपादित नहीं है । इसमें हेतु है ईक्षण । वेद ने सृष्टि को विचारपूर्वक, संकल्पपूर्वक हुआ बताया है और जड में यह संभव नहीं कि ईक्षण करे । अतः जगत् जडहेतुक नहीं है ।

कथम् ? एवं हि श्रूयते—सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छा.. ६.२.१) इत्युपक्रम्य 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय' (छां. ६.२.३) इति कारणस्य ईक्षितृत्वश्रवणात् जडस्य प्रधानस्य तदसम्भवात् प्रधानं न जगत्कारणम् । इति पञ्चमाधिकरणार्थः ।

स च षष्ठव्याख्यानेऽन्तर्भूतः । तत्र 'अस्मिञ्छेते जगत् सर्वं तन्मयं शब्दगामि यत् । तद्वानाच्छिव इत्युक्तं कारणं ब्रह्म तत्पराः !' (श्लो. १४) इति प्रधानशब्दवाच्याव्यक्तस्य ब्रह्माधीनत्वनिरूपणाद् ब्रह्मणश्च कारणत्वनिरूपणादिति ।

शेषेषु षडधिकरणेषु आनन्दमयत्वा-ऽऽदित्यान्तर्गतत्वा-ऽऽकाश-ज्योतिः-प्राणादिशब्द- प्रतिपाद्यत्वादीनि तस्यैव परमात्मन उक्तानि । तेषामपि तत्रैवान्तर्भावः इति ।

कारण का निरूपण किस प्रकार है ? इस प्रकार वेद में बताया है : 'हे सोम्य ! यह सब पहले एक ही अकेला सन्मात्र था' यों प्रारंभ

कर कहा है 'उस सत् ने ईक्षण किया—बहुत हो जाऊँ, प्रजा उत्पन्न करूँ' । इस प्रकार 'कारण ने ईक्षण किया यह निरूपित है । जड होने से प्रधान ईक्षण कर सकता' नहीं अतः वह जगत्कारण भी नहीं है । यही पंचम अधिकरण का सार है । इसका भाव भी छठी व्याख्या में आ गया है क्योंकि प्रधानशब्द से कहे अव्यक्त को वहाँ 'तद्वानात्' कहकर परमेश्वर के अधीन बताया है जिससे वह माया-शक्ति ही स्थिर होता है न कि सांख्यसंमत प्रकृति और फिर ब्रह्म को ही कारण भी कहकर अधिष्ठानकारण बताने से परिणामवाद का निराकरण हो जाने पर कापिलमत खण्डित हो जाता है ।

प्रथमाध्याय के बाकी छह अधिकरण भी जिस परमात्मा को बताते हैं उस कारणीभूत शिव को इस छठी व्याख्या में ही समझा दिया है । इन अधिकरणों का संक्षेप इस प्रकार है—

६. आनन्दमयश्रुति (तै. २.५) क्या संसारिपरक है या ब्रह्मपरक—यह संशय है । उत्तर है कि अभ्यास व उपक्रमादिवश आनन्दमय ब्रह्म को ही कहा गया है । किन्तु इस उत्तर में मयट्प्रत्यय का अर्थान्तर आदि दोष हैं अतः आचार्य ने निश्चित किया है कि इस अधिकरण का अभिप्राय है 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' (तै. २) वाक्य में कहा ब्रह्म क्या आनन्दमय के अवयवरूप से विवक्षित है या स्वयं ही मुख्य प्रतिपाद्य है—यह संशय होने पर उत्तर है कि क्योंकि 'असन्नेव स भवति' (तै. २.६) आदि निगमन श्लोक में केवल ब्रह्म का ही पुनरुल्लेख है इसलिये मुख्य प्रतिपाद्य रूप से ही उक्त वाक्य में ब्रह्म कहा गया है । इस प्रकार आनंदमयाधिकरण आनन्दमय समेत सारे विकारसमूह का कारण ब्रह्म को बता रहा है । छठी व्याख्या का शि-शब्द भी आनंदमयकोश का बोधक है जैसा कि एकाक्षर-काण्ड नामक कोष से सूचित किया था 'शिः शिवे शिवकान्तायां स्वापे निर्वाणहिंसयोः' । स्वाप से आनन्दमयकोश उपस्थित हो ही जाता है । उसके 'व' को, साक्षी को वहाँ बताया है ।

७. छान्दोग्य में सूर्य व चक्षु में उपास्य पुरुष का वर्णन है (१.६-७) । उस पर संशय है कि वह पुरुष कोई देवतारूप जीवविशेष है या परमेश्वर है । इसका समाधान दिया है कि सर्वात्मता व सब पापों से रहितता उस पुरुष में बतायी होने से परमेश्वर ही उपास्य रूप से कहा गया है । छठे

व्याख्यान में लक्ष्मीश सम्बोधन से नारायण सूचित होते हैं व सूर्य भी नारायण रूप ही हैं अतः सूर्यस्थ पुरुषरूप से परमेश्वरवर्णन होने से यह अधिकरण उसी व्याख्या से गतार्थ है ।

८. छान्दोग्य में ही लोक की गति क्या है ? इसके उत्तर में कहा है—आकाश, उसी से सब भूत उत्पन्न होते हैं व उसी में लीन होते हैं; आकाश ही इनसे बड़ा है, वही परम गति है । (छां. १.९.१) । यहाँ भी आकाश से महाभूत न समझकर परमेश्वर समझा जाये, यह सिद्धांत है । छठी व्याख्या में प्राप्ति की प्रार्थना से परम गति बता दी होने से अन्तर्भाव स्पष्ट है ।

९. पुनः छांदोग्य में प्राण को देवता कहा है (१.११.४-५) जहाँ वायुविकार न समझ परमात्मा ही समझना चाहिये क्योंकि सर्वभूतों का संवेश प्राण में कहा है जो वायुविकार में संभव नहीं—यह प्राणाधिकरण या अतिदेशाधिकरण का निर्णय है । 'तद्वानात्' से गत्यर्थक वा-धातु का निर्देश कर गतिहेतुभूत प्राण का बोध कराया होने से छठी व्याख्या में यह अधिकरण भी द्योतित है ।

१०. छान्दोग्य में ही द्युलोक से भी परे की ज्योति की जाठर अग्नि में उपासना कही है (३.१३.७) । वहाँ भी ज्योति से ब्रह्म ही समझना चाहिये क्योंकि द्युलोक से परे की ज्योति को कहा है व उसी प्रसंग में पूर्ववाक्य में परमात्मा के एक पाद में सब भूत बताकर उसके तीन पाद द्यु में बताये हैं । छठी व्याख्या में 'आनंदरूपः' (श्लो. १६) कहकर नित्य प्रकाशमान आनंद द्वारा ज्योति का संकेत होने से यह अधिकरण वहाँ समाविष्ट है । आनंद कभी अप्रकाशमान होता नहीं अतः प्रकाशमानता के साम्य से ज्योति में लक्षणा समुचित है ।

११. कौषीतकी में 'मैं प्रज्ञारूप प्राण हूँ' ऐसा इंद्र ने कहा है (३.२) । यहाँ भी प्राण से ब्रह्म समझना चाहिये क्योंकि पूर्वापर वाक्य तभी संगत होते हैं—यह निर्णय प्रतर्दनाधिकरण में है । यह वा-धातु के सम्बंध से षष्ठ व्याख्या से सम्बद्ध जानना चाहिये ।

इस प्रकार प्रथमाध्याय प्रथम पाद का अंतर्भाव बता दिया ।

अथ प्रथमाध्यायस्य द्वितीयपादे सप्तभिरधिकरणैः अस्पष्टब्रह्मलिंगैः ब्रह्मण एव उपास्यत्वमुक्तं, प्रधानजीवादीनां नोपास्यत्वमिति चोक्तम्। तच्च द्वितीयव्याख्यानेऽन्तर्भूतं, तत्र 'नमामि देवदेवेशं सकामोऽकाम एव वा' (श्लो. ३) इति ब्रह्मण एवोपास्यत्वनिरूपणात्।

स्पष्ट ब्रह्मलिंग वाले श्रुतिवाक्यों का प्रथम पाद में विचार करने के अनंतर अस्पष्ट ब्रह्मलिंग वाले वाक्यों का विचार द्वितीय पाद में बादरायण आचार्य ने किया है। इस पाद में विचारित वाक्य प्रायः उपास्य ब्रह्मपरक हैं।

(१) छांदोग्य में मनोमय, प्राणशरीर वाले प्रकाश रूप की उपासना विहित है (३.१४)। मनोमयादि से जीवात्मा ही उपास्य प्रतीत होता है किंतु सर्वत्रप्रसिद्धाधिकरण में निर्णय दिया है कि उक्त वाक्य से ब्रह्म ही उपास्य कहा गया है कारण कि इस विधि से ठीक पूर्व ब्रह्म का उल्लेख है और सभी वेदांतों में ब्रह्म से परमात्मा ही समझा जाता है, अतः प्रकृत का त्याग किये बिना उसी की उपासना का विधान मानना चाहिये।

(२) कठवल्ली में बताया है कि मृत्युरूप उपसेचन (अचार, चटनी) सहित ब्राह्मणों व क्षत्रियों को खाता है (२.२४)। यहाँ खाने वाला कौन यह प्रश्न होने पर उत्तर है कि परमात्मा ही खाने वाला है क्योंकि मृत्यु तक का समापन करने वाला ही यहाँ खाने वाला बताया है व परमात्मा में ही यह संभव है।

(३) कठ में ही कहा है कि गुहा में सुकृत का फल चखते हुए दो घुसे हुए हैं (३.१)। प्रश्न होता है कि वे दोनों कौन हैं ? उत्तर है कि जीव और परमात्मा ही दोनों बताये हैं क्योंकि दो कहने पर समान व्यक्तियों का ही बोध होता है, असमानों का नहीं तथा यहाँ फल भोगने वाला जीव तो अवश्य एक है, अतः उससे चैतन्यरूप समानता वाला परमात्मा ही दूसरा भी संभव है।

(४) छांदोग्य में आँख में पुरुष है जो ब्रह्म है ऐसा कहा है (४.१५.१)। वह पुरुष क्या छायारूप समझना है, या जीव समझना है, या इंद्रियाधिष्ठाता देवता समझना है, या फिर परमेश्वर ही समझना है—यह

प्रश्न होने पर उत्तर है कि परमेश्वर ही वह पुरुष है क्योंकि जो गुण वहाँ उस पुरुष के बताये हैं वे परमेश्वर में ही उपपन्न होते हैं।

(५) बृहदारण्यक में अन्तर्यामी का वर्णन है (३.७)। वहाँ भी अंतर्यामी परमात्मा ही विवक्षित है, देवता, योगी आदि नहीं क्योंकि जो वहाँ शासकत्व, अन्याऽज्ञातत्व, त्वम्पदार्थाऽभेद आदि धर्म कहे हैं वह परमेश्वर में ही संभव हैं, अन्यत्र नहीं।

(६) मुण्डक में सब भूतों के कारण को अदृश्य, अग्राह्य आदि कहा है (१.१.५-६)। वहाँ भी अदृश्यादि गुण वाला परमेश्वर है, प्रधान नहीं क्योंकि उसी भूतयोनि को वहीं सर्वज्ञादि कहा है जो प्रधान में नहीं ईश्वर में ही संभव है।

(७) छान्दोग्य में वैश्वानर की उपासना का प्रसंग है (५.१८)। वैश्वानर भी अग्नि या जीव नहीं है किन्तु परमात्मा ही है क्योंकि वैश्वानर की मूर्धा द्युलोक है आदि वर्णन से यही निश्चित होता है।

इस प्रकार सात अधिकरणों में यही समझाया है कि परमेश्वर ही उपास्य है। मंत्रराज के दूसरे व्याख्यान में भी कामना रहते व न रहते देवदेवेश को ही उपास्य कहा होने से इस पाद का उस व्याख्या में समावेश समझना उचित है।

अथ प्रथमाध्यायस्य तृतीयपादे चतुर्दशभिरधिकरणैः ब्रह्मणः सर्वाधिष्ठानत्वं श्रेष्ठत्वम् अक्षरशब्दवाच्यत्वं प्रणवेनोपास्यत्वं प्रकाशकत्वं विज्ञानमयादिशब्दवाच्यत्वं चोक्तम्। तच्च सप्तमव्याख्यानेऽन्तर्भूतम्। तत्र 'शिवं शिवमथाप्राप्त' (श्लो. १२) इत्यादिना श्रेष्ठत्वादेः सर्वरूपस्य सर्वाधिष्ठानत्वस्य च निरूपणात्।

मुख्यतः सविशेषपरक वाक्यों का विचार कर तीसरे पाद में प्राधान्येन निर्विशेषपरक ज्ञेयबोधक अस्पष्ट श्रुतियों का विचार किया गया है। इस पाद में भाष्यरीत्या तेरह व कुछ अन्य स्वसाम्प्रदायिक आचार्यों के अनुसार चौदह अधिकरण हैं। दहराधिकरण से 'उत्तराच्चे' दित्यादि सूत्रत्रयघटित अधिकरण पृथक् करने से संख्या में भेद आता है। अधिकरणों का संक्षिप्त परिचय यह है—

(१) मुंडक में द्यु, पृथ्वी, अन्तरिक्ष आदि को किसी में ओत-प्रोत कहा है व उसे ही एक आत्मा जानने को कहा है क्योंकि वही अमृत का

सेतु है (मुं. २.२.५)। वहाँ जिसमें ओत-प्रोत कहा है वह परब्रह्म ही समझना चाहिये क्योंकि उसे आत्मा समझने को कहा है व आत्मा का सही अर्थ परमेश्वर ही है । इस प्रकार ब्रह्म को सबका अधिष्ठान बताया है।

(२) छान्दोग्य में भूमा को—बहुतेरे को, व्यापक को—जानने योग्य कहकर जहाँ अभेद होता है वह भूमा है ऐसा उपदेश दिया है (७.२३-२४)। वहाँ भी भूमा परमात्मा ही निश्चित होता है न कि पूर्वप्रकृत प्राण क्योंकि प्राणजिज्ञासा व प्राणोपदेश के अनन्तर भूमा का उपदेश है। यदि प्राण ही भूमा होता तो प्राणोपदेश में ही उसे भूमा कहते, उसका अलग से उपदेश न देते। इस प्रकार ब्रह्म को सर्वश्रेष्ठ, व्यापक, बताया है।

(३) बृहदारण्यक में आकाश को अक्षर में ओत-प्रोत कहा है (३.८.७-८)। वहाँ भी परमात्मा ही अक्षर है क्योंकि आकाश का भी—या आकाशशब्दित अव्यक्त का भी—उसे आधार कहा है जो अन्य असंभव है। किं च उसे स्थूलतादि सब धर्मों से रहित, सबका प्रशंसक और बिन देखा देखने वाला आदि कहा है। यह सब भी परमेश्वर में ही होते हैं।

(४) प्रश्नोपनिषत् में तीन मात्रा वाले ओंकार से पुरुष का अभिध्यान विहित है (५.५)। वह पुरुष भी महेश्वर ही समझना चाहिये क्योंकि उसी पुरुष का दर्शन उसी वाक्य में बताया है तथा दर्शनीय पुरुष परमात्मा ही है व उसी का सम्यग्दर्शन हो भी सकता है एवं च प्रणव के सहारे उपास्य भी परमशिव ही है।

(५) छोटे से हृदयकमल में दहर (सूक्ष्म) आकाश को अन्वेषण के योग्य छान्दोग्य ने बताया है (८.१)। वह दहर आकाश परमेश्वर ही है क्योंकि आगे का प्रसंग तभी सही बैठता है। दहर आकाश को बाह्याकाश से उपमित किया है और द्यु व पृथ्वी को उसी में समाहित बताया है। किंच उसे पापादि से रहित कहा है। यह सब परमेश्वर में ही संभव है।

(६) प्रजापति ने पापरहित आत्मा का जो उपदेश दिया है (छां. ८.७) वह भी ब्रह्म का ही जानना चाहिये। जो वहाँ जीवबोधक वचन आये हैं उनका तात्पर्य जीव के शुद्ध रूप से है। जीव का शुद्ध रूप तो

ब्रह्म ही है। जीव को ब्रह्म बताने के लिये उसका अनुवाद किया गया है न कि उसे ही बताने के लिये। एवं च जहाँ कहीं भी जीव को शुद्ध आदि कहा है वहाँ शोधित त्वमर्थ के अभिप्राय से कथन समझना चाहिये यह इस अधिकरण का न्याय है।

(७) मुण्डक में कहा है— उसके प्रकाशमान होने पर उसके पीछे ही बाकी सब प्रकाशमान होते हैं, उसके प्रकाश से ही यह सब भासता है (२.२.१०)। यहाँ भी 'उसके' अर्थात् परमात्मा के—यही समझना चाहिये। कारण कि सूर्यादि चित्प्रकाश के अनन्तर प्रकाशें यही संभव है, किसी जड प्रकाश से वे प्रकाशित हों यह अत्यंत अप्रसिद्ध और अनवस्थाभय से असंभव है। अतः सबके प्रकाशक महादेव निश्चित होते हैं।

(८) कठवल्ली में अंगुष्ठमात्र पुरुष को भूत-भव्य का ईशान, शासक, कहा है (४.१३)। अंगुष्ठमात्र पुरुष भी परमात्मा ही है क्योंकि ईशान कहकर जो शासकत्व बताया है वह अन्यत्र संभव नहीं। किं च 'ईश्वरः शर्व ईशानः' (अमर) 'ईशानः शशिशेखरः' (हलायुध), 'ईशानं ज्योतिषि क्लीबं पुंल्लिंग स्यात् त्रिलोचने' (मेदिनी) 'ईश ईश्वर ईशानो भर्गो मृत्युंजयो मृडः' (वैजयन्ती) आदि कोशों से भी ईशान शब्द परमेश्वरवाचक है।

(९) देवताधिकरण में स्थापित किया है ब्रह्मज्ञान में देवताओं को भी अधिकार है।

(१०) अपशूद्राधिकरण में निर्णय दिया है कि शूद्र को ब्रह्मविद्या में वेदपूर्वक अधिकार नहीं है।

(११) कठवल्ली में सारे जगत् को प्राणाश्रित हो स्पन्दित होने वाला बताया है (६.२)। वहाँ प्राण से ब्रह्म ही समझना होगा क्योंकि पूर्वोत्तर प्रसंग ब्रह्म का ही है। किं च सारे संसार को स्पंदित करने की सामर्थ्य भी ब्रह्मातिरिक्त में दुर्लभ है। उस प्राण से सबको डरने वाला कहा गया है तथा सब तो केवल परमेश्वर से ही डर सकते हैं। उस प्राण के ज्ञान से अमरता फल कहा है, वह भी तभी संभव है जब प्राण ईश्वर हो क्योंकि और किसी का ज्ञान अमरता नहीं देता। नचिकेता के प्रश्न के अनुसार भी परमात्मा का ही उपदेश संगत है, अन्य का नहीं।

(१२) छान्दोग्य में परम ज्योति को प्राप्त कर स्वरूप की अभिनिष्पत्ति कही है (८.१२.३)। वह परम ज्योति परमेश्वर ही है क्योंकि उपक्रम-उपसंहार ब्रह्म विषयक है तथा ज्योति-प्राप्ति का फल अशरीरता बताया है जो केवल परमात्मप्राप्ति का फल है।

(१३) छान्दोग्य के समापन में नाम-रूप के व्याकर्ता (व्यक्त-कर्ता) को आकाश कहा है। वह आकाशशब्द भी ब्रह्मपरक है क्योंकि नाम-रूप का व्याकर्ता नाम-रूप से पृथक् ही होगा व नाम-रूप से पृथक् केवल शिव है।

(१४) बृहदारण्यक में प्राण, बुद्धि और उनकी वृत्तियों से भिन्न ज्योतीरूप विज्ञानमय पुरुष का विस्तृत प्रसंग है (४.३.७)। वह भी जीव की परमात्मरूपता बताने के लिये ही है, क्योंकि उसी प्रसंग में सुषुप्ति व मरणावस्था में जीव से पृथक् परमेश्वर का कथन है— सुषुप्ति में जीव परमेश्वर से जुड़ जाता है (४.३.२१) तथा मरने पर जीव वेदनावश शब्द करते हुए ईश्वर से अधिष्ठित हुआ ही जाता है (४.३.३५)। इस प्रकार बताये ईश्वर को ही जीव का स्वरूप उसमें समझाया है।

इन सब अर्थों का सप्तम व्याख्या में समावेश है कारण कि वहाँ महेश्वर की पूर्णतः शिवरूपता (श्लो. १८) बतायी है जिससे इस पाद में कही सारी ईश्वरविशेषतायें समझ ली जा सकती हैं। 'यतो जातोऽनमो नमः' (श्लो. १७) से आविर्भूतस्वरूप वाला जीव स्पष्ट निर्दिष्ट होने से षष्ठाधिकरण सूचित है। 'शिवाय मे' (श्लो. १८) द्वारा मे-शब्दित अधिकारी बताया होने से देवता-अपशूद्राधिकरणों का संग्रह भी हो जाता है।

प्रथमाध्यायस्य चतुर्थपादेऽष्टभिरधिकरणैः पुनः प्रधानकारणतानिराकरणपूर्वकं ब्रह्मण एव कारणत्वमुक्तम्। तत्तु षष्ठव्याख्यानेऽन्तर्भूतं, तत्रापि प्रधानस्य ब्रह्माधीनतानिरूपणद्वारा ब्रह्मण एव सर्वकारणत्वनिरूपणात्। इति प्रथमाध्यायव्याख्या समाप्ता॥

पहले अध्याय के चौथे पाद में उन शब्दों के अर्थ का विचार है जो कथंचित् प्रधानादि के बोधक प्रतीत हो सकते हैं। आठ अधिकरणों से प्रधान की जगत्कारणता का निषेध कर ब्रह्मकारणता का दृढीकरण इस पाद में है।

(१) कठ में महान् से अव्यक्त को व अव्यक्त से पुरुष को परे बताया है (३.११)। महत्तत्त्व सांख्यप्रसिद्ध है, अतः उससे परे बताया अव्यक्तपद भी सांख्यप्रसिद्ध प्रकृति का ही बोध करायेगा—यह शंका होने पर सिद्धांत है कि प्रकरण के अनुसार रथरूपक से तालमेल बैठाने पर अव्यक्तशब्द शरीर का बोध कराता है, सर्वथा अप्रकृत प्रकृति का नहीं। उसे (शरीर को) अव्यक्त इसलिये कहा है कि उसका कारण अव्यक्त है। कारणीभूत अव्यक्त भी ईश्वर के अधीन ही है, अतः प्रधानवाद का प्रसंग नहीं।

(२) श्वेताश्वतर में कहा है—समान रूप वाली बहुत प्रजायें उत्पन्न करती हुई लाल-सफेद-काले रंग वाली एक अजा (बकरी) के साथ एक अज भोगते हुए सोता है और भोग लिये हैं भोग जिसने ऐसी उस अजा को दूसरा अज छोड़ देता है (४.५)। इस मंत्र में तीन रंगों के सहारे कापिल लोग तीन गुणों वाली प्रकृति ही अजा कही है ऐसी कल्पना कर बैठते हैं। उसका इस अधिकरण में निरास है। जैसे श्रुति में (बृ. २.२.३) नीचे छेद व ऊपर मूल (पेंदे) वाले चमस के कथन से किसी विशेष चमस का ज्ञान नहीं होता वैसे रंगमात्र या अजा कहने मात्र से प्रकृतिरूप विशेष पदार्थ का ज्ञान नहीं हो सकता। बल्कि यहाँ कहे तीन रंग श्रुति ने ही अन्यत्र (छां. ६.४ आदि) तीन महाभूतों के बताये हैं, अतः रंगों से उन महाभूतों का स्मरण तो होना उचित है, श्रुति में कहीं नहीं बताये गुणों का नहीं। अजा का—बकरी का—तो रूपक बनाया गया है। इसलिये इस मंत्र के आधार पर प्रधान या त्रिगुण को सिद्ध करना श्रौत प्रक्रिया से सर्वथा विरुद्ध है। यद्यपि वेदांत की प्रक्रियाओं में त्रिगुण का समावेश है व गीता में स्वयं भगवान् ने उन्हें स्वीकारा है तथापि न तो वे श्रौत कहीं स्वीकारे गये हैं व न सांख्यसंमत ही उनके स्वरूप का आग्रह है। सुखादि के उपपादक रूप से गुणों को मानना उन्हें जगत्कारण मान लेना नहीं है। किं च उपेक्षा का कारण क्या होगा ? जब सभी त्रिगुणात्मा है तो किसी के प्रति उपेक्षा न हो सकेगी। अतः सबकी त्रिगुणात्मता भी वेदांत में स्वीकार्य

नहीं। माया में अनेक सामर्थ्य हैं। उनमें सुखादिहेतु सामर्थ्यों को सत्त्वादि कहा जाता है—इतना ही मानना संगत है। अतः 'त्रिगुणात्मिकां स्वां मायाम्' आदि भाष्य में तीन से अतिरिक्त गुणों की व्यावृत्ति नहीं है। प्रधानतावश तीन का उल्लेख है।

(३) 'पाँच पंचजन और आकाश जिसमें प्रतिष्ठित हैं उसे ही आत्मा मानता हूँ' (बृ. ४.४.१७) यह ब्राह्मणोक्त मंत्र है। इसमें पाँच पंचजन सुनकर पाँच का पाँच से गुणा कर सांख्यवादी पच्चीस की गिनती तक पहुँचता है व उससे सांख्यसंमत पच्चीस तत्त्व कहे हैं यह घोषणा करता है। सिद्धांत में स्पष्ट किया है कि क्योंकि अगले मंत्र में प्राण, चक्षु, श्रोत्र, अन्न और मन इन पाँच का ब्रह्मस्वरूपनिरूपणार्थ वर्णन है इसलिये इन्हें ही पंचजन कहा है व ये पाँच ही हैं, यह पंच शब्द से स्थिर किया है, अतः यहाँ गुणा करना अप्रासंगिक है। फलतः सांख्यतत्त्वों का कथन इस मंत्र में नहीं है। अथवा देवादि या निषाद समेत चारों वर्णों पंचजन समझें तो भी संगति बैठती ही है। हर हालत में पच्चीस का कथन नहीं है।

(४) कारणत्वाधिकरण में स्थिर किया है कि सृष्टिक्रम के विषय में श्रुतियों की अनेकवाक्यता प्रतीत होने पर भी कारण परमात्मा ही है इस विषय में एकवाक्यता ही है। सृष्टि में अनादर होने से, उसे मिथ्या बताने के लिये सृष्टि में अनेकवाक्यता है।

(५) कौषीतकि में कहा है 'जो इन आदित्यादि पुरुषों का कर्ता है, जिसका यह (जगत्) कर्म है, उसे जानना चाहिये' (४.१९)। वहाँ परमात्मा ही कर्ता और जानने योग्य कहा गया है। 'यह कर्म है' में यह शब्द सारे संसार का ज्ञापक है व सारा संसार परमेश्वर का ही कर्म संभव है।

(६) बृहदारण्यक में प्रियतम आत्मा को दर्शनयोग्य कहकर उसका श्रवणादि करने को कहा है (४.५.६)। वहाँ भी परमेश्वर ही प्रियतम दर्शनीय आत्मा है क्योंकि पूर्वापरसंदर्भ तभी संगत होगा।

(७) प्रकृत्यधिकरण में निश्चित किया है कि परमात्मा केवल निमित्त नहीं उपादान कारण भी इस प्रपंच का है। ब्रह्म का ही विकाररूप

से परिणाम संसार है। यहाँ 'विकार' और 'परिणाम' शब्दों से विवर्तरूप अन्यथाभाव समझना चाहिये अन्यथा तदनन्यत्वाधिकरण (२.१.६.१४) का विरोध होगा।

(८) अन्त्य अधिकरण में कहा है कि यहाँ प्रदर्शित रीती से अन्य भी जो कोई वादी परमात्मा से भिन्न कोई भी जगत्कारण माने व उसे श्रुतिसंमत कहें तो उनका निरास हो जाता है।

यह पाद छठी व्याख्या में ही अंतर्भूत समझना होगा क्योंकि वहाँ शि--नामक कारणोपाधि को भगवान् से अधिष्ठित बताकर भगवान् से भिन्न सभी स्वतंत्र कारणों का प्रतिषेध कर दिया है। इस प्रकार ब्रह्मसूत्रों के पहले अध्याय का मंत्रराजव्याख्या में अंतर्भाव स्पष्ट किया।

अथ अविरोधाख्यद्वितीयाध्यायस्य प्रथमे पादे त्रयोदशभिरधिकरणैः सांख्यस्मृत्यादिविरोधपरिहारं कृत्वा निर्गुणस्यापि ब्रह्मणो विवर्ताधिष्ठानत्वेन प्रकृतित्वं निमित्तत्वं च साधितम्। तत् तु षष्ठसप्तमव्याख्यानयोः अन्तर्भूतम्। तत्र षष्ठव्याख्याने प्रकृतेः स्वातन्त्र्यनिषेधद्वारा ब्रह्मणः कारणत्वविधानात्; सप्तमे च 'यस्मात् त्वं नेति नेतीति नञर्थं मासि वेदजम्' (श्लो. १७) इत्यनेन विवर्ताधिष्ठानत्वप्रतिपादनेन असङ्गत्वनिरूपणात्॥

प्रथम अध्याय में शास्त्रतात्पर्य केवल परमेश्वर में है यह सिद्ध कर इस विषय में स्मृति व युक्ति के संभावित विरोधों के परिहार के लिये व मतान्तरों की असंगति स्पष्ट करने के लिये शारीरकशास्त्र का दूसरा अध्याय है। इसके प्रथम पाद में तेरह अधिकरणों द्वारा सांख्यस्मृति आदि का ब्रह्मवाद से विरोध होने पर क्यों ब्रह्मवाद ही उपादेय है सांख्यस्मृत्यादि नहीं यह बताया गया है।

(१) श्रुतिमूलक न होने से व श्रुत्यनुकूल स्मृतियों से विरुद्ध होने से श्रुतिविरोध करने वाली सांख्यस्मृति का बाध ही होता है। प्रत्यक्षादि से भी सांख्यतत्त्व सिद्ध न होने से उनकी व्यावहारिकता भी स्वीकार्य नहीं है—यह प्रथमाधिकरण में कहा है।

(२) पूर्वोक्त रीति से ही वेदविरोधी अंश में योगस्मृति भी बाधित है।

(३) ब्रह्म से विपरीत लक्षण वाला—अर्थात् अचेतन व अशुद्ध—होने पर भी जगत् ब्रह्मरूप उपादान से ही बना है क्योंकि लोक में देखा जाता है कि चेतन शरीर से जड केशादि उत्पन्न हो जाते हैं। साथ ही कार्यदोषों से कारण अस्पष्ट ही रहता है। इस प्रसंग में श्रुति से अननुगृहीत तर्क कुछ सिद्ध नहीं करता, क्योंकि अनुग्राहक प्रमाण के बिना अकेला तर्क निरंकुश उत्प्रेक्षामात्र होने से निर्णायक होता नहीं।

(४) शिष्ट मनु व्यासादि द्वारा जिन परमाणुकारणवाद आदि की सर्वथा उपेक्षा की गयी है उन वादों के तर्क भी अनुग्राहक प्रमाण के अभाव से निर्वीय ही हैं।

(५) भोक्ता-भोग्य का विभाजन अद्वैत में वैसे ही संगत है जैसे अभिन्न समुद्र में फेन-तरंग आदि विभाजन हो जाता है।

(६) कार्य अपने कारण से भिन्न नहीं होता। अनभिव्यक्त अवस्था में कार्य कारण में ही रहता है। जैसे सिमटा और खुला कपड़ा अलग-अलग नहीं होते ऐसे कार्य व कारण अलग-अलग नहीं होते।

(७) जीव व ईश्वर में औपाधिक भेद है, अतः सृष्टि आदि में जीव स्वतंत्र नहीं है।

(८) यद्यपि सामान्यतः कर्ता को बहुतेरे सहायक अपेक्षित होते हैं कार्य पैदा करने के लिये तथापि जैसे देवता, जादूगर आदि सहायक के बिना ही कार्य तैयार कर लेते हैं वैसे परमेश्वर भी शक्त होने से अन्य किसी की अपेक्षा के बिना संसार बना लेता है।

(९) सृष्टि परमेश्वर का मायिक विकार होने से यह प्रश्न नहीं उठता कि क्या पूरा ब्रह्म विकृत हुआ या उसका एक हिस्सा। हिस्सा तो परमेश्वर का वास्तव में है नहीं और मायिक में पूरे-अधूरे का प्रश्न होता नहीं। श्रुति के आधार पर ही यह व्यवस्था स्वीकृत है। स्वप्नादि में यही परिस्थिति हमें अनुभव में आ जाती है। बल्कि सत्य सृष्टि मानने वालों के ही पक्ष में ये दोष आते हैं।

(१०) परा देवता, परब्रह्म, सभी मायिक शक्तियों से युक्त है यह श्रुतिसंमत है।

(११) बिना किसी प्रयोजन के लीलारूप प्रवृत्ति की तरह परमेश्वर स्वभाव से ही जगल्लीला रच देता है।

(१२) अनादि कर्मराशि के अनुसार जीवों को उच्चावच भोग मिलते हैं, अतः परमेश्वर में पक्षपात नहीं है।

(१३) भ्रम का अधिष्ठान होना ही मायावाद में उपादान होना है, अतः निर्गुण का उपादानत्व संगत है। कारण में जो गुण बताये हैं वे सब ईश्वर में उपलब्ध हैं, अतः वही जगत्कारण है।

इस प्रकार इस पाद में भी अभिन्न-निमित्तोपादान ब्रह्म की स्थापना है। यह सारा अभिप्राय छठी व सातवीं व्याख्या में समाविष्ट है। छठी में प्रकृति को ब्रह्माधीन कहकर सांख्यादि का अनवसर व ब्रह्म को कारण कहा ही है। सातवीं में 'नेति नेति' द्वारा विवर्तता और उसको जानने वाले अर्थात् अधिष्ठान को-नम शब्द से—कहा है, अतः मायिक उभयविध कारणता स्पष्ट है। जडमात्र का अधिष्ठान अजड ही संभव होने से विवर्तरूप जड का ज्ञाता ही उसका अधिष्ठान निश्चित होता है।

द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयपादे अष्टभिरधिकरणैः सांख्यादिबौद्धान्तानां मतस्य खण्डनम्। तच्च चतुर्थव्याख्यानेऽन्तर्भूतम्। तत्र 'शिवो ब्रह्मादिरूपः स्याच्छक्तिभिस्तिसृभिः सह' (श्लो. ६) इति सर्वस्य प्रकृत्यन्तस्य अध्यस्तत्वप्रतिपादनेन अखण्डैकरसतुरीयात्मन एव वास्तवत्वप्रतिपादनात्; देहादिबुद्ध्यन्तप्रपञ्चस्य अध्यस्तत्वेन आभासमानमात्रत्वप्रतिपादनेन अनात्मत्वनिरूपणात् तन्निराकरणेनैव सांख्यादीनामपि निराकृतत्वात्, तेषां तन्मात्रात्मत्वमानित्वात्; प्रधानपरमाण्वादीनां प्रकृत्यन्तर्गतत्वाद्; आत्मन एव वास्तवत्वप्रतिपादनेन शून्यवादिमतस्य निराकृतत्वात्।

दूसरे अध्याय का दूसरा पाद तर्कपाद नाम से प्रसिद्ध है। इसमें आठ अधिकरणों द्वारा सांख्यों से बौद्ध पर्यंत सभी सिद्धान्तों का ऊहा-पोह से खण्डन है।

(१) जड होने से प्रकृति स्वतंत्र हो विशिष्ट वैलक्षण्यों से युक्त जगत् की कारण नहीं हो सकती। जगद्रचना के लिये अपेक्षित गुणवैषम्य भी निर्हेतुक संभव न होने से चेतनाधिष्ठित ही माननी पड़ेगी। सांख्य-पुरुष तो प्रवर्तक हैं नहीं, अतः सांख्य मत अशोभन है।

(२) तार्किक (वैशेषिक) ब्रह्मकारणता में दोष प्रदर्शन करना चाहते हैं, पर उनकी प्रक्रिया में ही ब्रह्मवाद के अनुकूल दृष्टांत मिलने से ब्रह्मवाद ही सिद्ध होता है। ह्रस्व द्व्यगुणक व परमाणु से महान् और दीर्घ की उत्पत्ति तार्किक मानता है, ऐसे ही चेतन से अचेतन की उत्पत्ति संभव है।

(३) वैशेषिकप्रक्रिया से जगत् की उत्पत्ति संभव ही नहीं है क्योंकि परमाणुओं के प्राथमिक संयोग के लिये अपेक्षित क्रिया किसी तरह उपपन्न नहीं है। शरीर ही तब न होने से तदवच्छिन्न आत्मा में संभव प्रयत्न ही तब होगा नहीं तो आगे क्रिया कैसे होगी ? अदृष्ट तो अचेतन होने से बिना चेतन के कुछ करेगा नहीं। फिर जन्य भाव कार्य होने से प्रलय में अदृष्ट रहता भी नहीं है। यदि रहता है मानें तो सर्गाद्यक्षण में ही क्यों परमाणु में क्रिया करायेगा, पहले ही क्यों नहीं करा देगा ? इत्यादि प्रश्न बने रहेंगे। किं च निरवयवों का संयोग भी असंगत है। समवाय नामक पदार्थ भी प्रमाणविरुद्ध है। परमाणु भी रूपादियुक्त होने से घटादिवद् अनित्य ही सिद्ध होते हैं। सभी शिष्टों ने परमाणुवाद की उपेक्षा ही की है, अतः इसे स्वीकारना नहीं चाहिये।

(४) बौद्ध मानते हैं कि पृथ्व्यादि भूतचतुष्टय के परमाणु संहत होकर पृथ्व्यादि बनाते हैं और विज्ञानादि पाँच स्कन्ध संहत होकर सारा आध्यात्मिक (जीव में होने वाला) व्यवहार संपन्न करते हैं। किंतु क्योंकि परमाणु व स्कंध अचेतन हैं इसलिये इनका संहत होना ही असंभव है। जिन कुछ सहकारियों को वे गिनाते हैं वे भी संघात के अनंतर भले ही संभव हों, संघात के प्रति कारण नहीं हो सकते। क्षणिकतावाद में तो कार्यकारणव्यवस्था ही चौपट है। बौद्ध-संमत पदार्थ युक्तिविरुद्ध हैं व

प्रत्यभिज्ञावशात् आत्मक्षणिकता अस्वीकार्य है। प्रभाव को कारण मानना युक्ति व अनुभव दोनों से विपरीत है। अतः बौद्धों की कल्पना से श्रौतमत में कोई शंका उठ नहीं सकती।

(५) विज्ञानवादी का साकारज्ञान मानना और बाह्यार्थ का अपलाप दोनों अप्रामाणिक व अनुभवविरुद्ध हैं। स्वयंसिद्ध साक्षी से विषयरूपित विज्ञान प्रकाश्य मानने पड़ेंगे, अन्यथा विज्ञान को स्वप्रकाशक मानने से कर्तृकर्मविरोध होगा। क्षणिक होने से विज्ञान में वासना भी मानी नहीं जा सकती। एवं च सुगतमत सर्वथा अनादरणीय है।

(६) जैनी मत में हर वस्तु के विषय में सात विकल्प सदा रहते हैं—शायद है, शायद नहीं है, शायद है और नहीं है, शायद कही नहीं जा सकती; शायद है और कही नहीं जा सकती; शायद नहीं है और कही नहीं जा सकती एवं शायद है और नहीं है और कही नहीं जा सकती। इस पर विचार कर निर्णय होता है कि ये परस्पर विरुद्ध विकल्प युगपत् मानना एक बड़ी मूर्खता है व यों 'शायदवाद' का कोई मुमुक्षु आश्रय ले यह भी किसी समझदार की बुद्धि से परे है क्योंकि निश्चित साधन का ग्रहण ही सिषाधयिषु करता है। जैनी लोग आत्मा को शरीरपरिमाणी मानते हैं। ऐसी मान्यता भी उसे घटादिवद् अनित्य सिद्ध करेगी। आत्मा के अनन्त अवयव मानने से भी कोई समाधान नहीं होता। इस प्रकार आर्हत मत भी उपेक्षा के ही योग्य है।

(७) ईश्वर को केवल निमित्त कारण मानने वाले माहेश्वरादि की मान्यता भी सम्यक् नहीं है क्योंकि उस मान्यता से ईश्वर में स्वार्थिता और पक्षपात स्वीकारने होंगे। कर्म के सहारे भी व्यवस्था नहीं हो सकती क्योंकि जड कर्म स्वयं तो ईश्वर को प्रेरित करेगा नहीं एवं ईश्वर कर्म को प्रेरित करे तो पुनः क्यों करे—यह प्रश्न बना ही रहेगा। फिर, ईश्वर प्रधान और पुरुष पर शासन कैसे करेगा ? शासन के लिये कोई सम्बन्ध चाहिये व भेदवाद में प्रधान व पुरुष से ईश्वर का कोई सम्बन्ध सिद्ध होता नहीं। पुनश्च, तर्कसिद्ध ईश्वर को शरीरी मानना होगा जो अनुपपन्न है क्योंकि तब उसे भोगादि प्राप्त होने लगेंगे। किं च सब

जीवों के मुक्त होने पर ईश्वर का शासकत्व भी लुप्त होगा। यदि जीवों की इयत्ता जाने नहीं तो ईश्वर सर्वज्ञ नहीं रहेगा और यदि जाने तो इयत्ता वाले होने से जीव समाप्त होंगे ही व फलतः ईश्वर शासक नहीं रहेगा। अतः तर्कसिद्ध निमित्तमात्र ईश्वर अस्वीकार्य है।

(८) भागवतमत में जीव की उत्पत्ति मानी गयी है, वह असंगत है क्योंकि उत्पत्ति वाला होने से जीव अनित्य होगा जिससे कर्म-ज्ञान दोनों काण्डों का विरोध होगा। ऐसे ही जीव से मन की उत्पत्ति भी श्रुतिसिद्ध न होने से अमान्य है। अतः यह मत भी उपादेय नहीं।

यह सारा अभिप्राय 'नमः शिवाय' की चौथी व्याख्या से गतार्थ है। उसमें प्रकृति समेत सारे अनात्मा को अध्यस्त बताया है और अभिन्न अद्वितीय निरुपाधिक आत्मा को ही वास्तविक कहा है। एवं च देहादि बुद्धिपर्यंत सभी उपाधियों को अध्यस्त कहने से उन्हें अनात्मा घोषित किया जिससे सांख्यादि का निराकरण हो गया क्योंकि सांख्यादि इन उपाधियों को ही आत्मा मानते हैं। गीता में जिन्हें क्षेत्रधर्म कहा है उन्हें आत्मधर्म मानकर नैयायिक मुखतः ही उपाधि को आत्मा मानते हैं। अतः बृहद्भाष्य में (पृ. १८३ M.R.I.) आचार्य ने कहा है कि मन ही नैयायिकों की आत्मा है। ऐसे ही भोक्ता मानने वाले सांख्यवादी बुद्धि को ही आत्मा समझ बैठे हैं। एवं च उपाधि को अनात्मा कहने से इनका निराकरण हो गया। परमाणु आदि तो प्रकृति-न्याय से पराकृत हैं। आत्मा को वास्तविक कहने से शून्यवाद का खण्डन हो गया है। 'वेदैः शास्त्रैश्च' (श्लो. १) कहकर आगमादिमात्रमूलक भागवतादि का निराकरण है तथा 'अहं शिवः शिवोऽहम्' (श्लो. ८) से जीव को व्यापक कह कर जैनमत का प्रत्याख्यान है।

द्वितीयाध्यायस्य तृतीयपादे सप्तदशभिरधिकरणैः आकाशस्य अनित्यत्वं, खरूपवतो ब्रह्मणो वायोरुत्पत्तिः, एवं क्रमेण ब्रह्मणो जगज्जनकत्वं, जीवस्य ब्रह्मरूपत्वं चोक्तम्। तच्च षष्ठसप्तमव्याख्यानयोः अन्तर्भूतम्। तत्र ब्रह्मण एव सर्वकारणत्वप्रतिपादनेन आकाशादीनां जन्यत्वेन अनित्यत्वप्रतिपादनात्। तथा 'शिवाय मे तथा प्राप्त्या शिवायं कुरु सर्वदा' (श्लो. १८) इति जीवस्य ब्रह्मरूपत्वनिरूपणात्।

श्रौतमत में प्रमाणान्तर का विरोध नहीं यह बता चुके हैं। तीसरे पाद में श्रुतियों के ही परस्पर विरोध का परिहार किया गया है ताकि निश्चित ज्ञान प्राप्त हो। इसमें सत्रह अधिकरण हैं।

(१) आकाश परमात्मा से उत्पन्न होता है। कहीं उसकी उत्पत्ति बतायी न होने से वह उत्पन्न होता ही नहीं यह नहीं कह सकते जब अन्यत्र उसकी परमात्मा से उत्पत्ति बतायी है। जो कुछ भी विभक्त है—किसी से भी भिन्न है—वह सब उत्पन्न होता है, यह निश्चित है। आत्मा विभक्त होने पर भी उत्पत्ति वाला माना नहीं जा सकता क्योंकि उसे नित्य न मानना असंभव है कारण की आत्मा के अभाव में प्रमाण मिल नहीं सकता। अतः यह नियम आत्मातिरिक्त में ही लगता है।

(२) वायु भी परमात्मा से उत्पन्न होती है।

(३) सन्मात्र ब्रह्म की उत्पत्ति असंभव होने से ही नहीं होती।

(४) तेज की उत्पत्ति कहीं वायु से कही है कहीं सत् से किंतु निर्णय यही है कि वायुभाव को प्राप्त सत् से ही तेज की उत्पत्ति है।

(५) तेजोभाव को प्राप्त सत् से जल की उत्पत्ति होती है।

(६) जलभाव को प्राप्त सत् से पृथ्वी उत्पन्न होती है, सीधे ही जौ-चावल आदि नहीं।

(७) महाभूत खुद अपने विकारों को उत्पन्न नहीं करते किंतु उन महाभूतों के रूप में स्थित परमेश्वर ही उत्पन्न करता है।

(८) जिस क्रम से भूत उत्पन्न होते हैं उससे विपरीत क्रम से इनका विलय होता है।

(९) इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि महाभूतों के कार्य हैं, अतः महाभूतोत्पत्ति के बाद ही उत्पन्न होते हैं।

(१०) जन्म-मरण शरीरसंबंध व शरीरवियोग को कहते हैं, जीव का जन्म-मरण नहीं होता।

(११) कल्पारंभ में भी जीव उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि शास्त्र ने उसे नित्य कहा है।

(१२) आत्मा नित्य ज्ञानरूप है क्योंकि वह अनुत्पद्यमान है।

(१३) जीव व्यापक है। बुद्धिरूप उपाधि के व उसके धर्मों के अध्यास के कारण संसारित्व—आवागमन संभव होता है। जहाँ कहीं जीव को अणु कहा है वह सूक्ष्म के अभिप्राय से है। मोक्षपर्यन्त जीव का बुद्धि-सम्बंध बना रहता है। सुषुप्त्यादि दशा में वह अभिव्यक्त भले ही न हो, रहता जरूर है। बुद्धि श्रुत्यादिसिद्ध है ही, नित्य ही ज्ञान बना नहीं रहता इसकी अन्यथा अनुपपत्ति से भी स्वीकार्य है।

(१४) शास्त्र की सार्थकता तभी है जब जीव कर्ता है, चाहकर कुछ कर सकता है। अतः जीव को कर्ता मानना होगा। सहायकों की परतंत्रता होने पर भी है यह स्वतंत्र ही कर्ता।

(१५) जीव में कर्तृता अध्यस्त ही है, वास्तविक नहीं। जैसे खाती (बढई) वसूले आदि लिये हो तो लकड़ी का काम कर सकता है अन्यथा नहीं, वैसे ही उपाधि व तद्धर्मों के अध्यास के रहते जीव कर्ता है, अन्यथा नहीं।

(१६) जीव जो कुछ करता है वह परमेश्वर की अनुज्ञा व अनुग्रह से ही करता है। जीव के करने में भेद उसके अपने संस्कारादि से होता है। जैसे पौधे बढ़ते पानी से ही हैं पर वृक्षों की जातिभेद से किसी में खट्टा फल होता है किसी में मीठा, ऐसे करते हम परमेश्वर के कारण ही हैं पर संस्कारादिवश अच्छा बुरा आदि कर लेते हैं।

(१७) जीव को ईश्वर के अंश की तरह समझना चाहिये। 'की तरह' इसलिये कि उसे ईश्वर ही समझें तो जो कहा है 'जीव को चाहिये कि ईश्वर को जाने' आदि वह संगत न होगा और जीव का स्वयं अनुभव भी आड़े आयेगा। किंतु सर्वथा भी उसे ईश्वर से भिन्न नहीं मान सकते, क्योंकि शास्त्र ने जीव-ईश्वर का अभेद भी बताया है। इसलिये यही मानना चाहिये कि चेतन रूप से एक हैं व उपाधि सम्बद्ध रूप से अलग हैं। जीव के दुःख ईश्वर नहीं भोगता; मिथ्या अभिमान से ही दुःख होता है व मिथ्याभिमान ईश्वर को है नहीं। उस अभिमान से ही विधि निषेध की विषयता आती है। यह अभिमान वैसा ही है जैसे जल आदि में सूर्य का आभास, प्रतिबिंब, अर्थात् जैसे जलांतर्गतत्व की सूर्य में मिथ्या ही प्रतीति है वैसे शारीरता की अपने में मिथ्या ही प्रतीति है। अनेक वास्तविक आत्मा मानने पर बहुतेरी अव्यवस्था का प्रसंग उपस्थित होता है, अतः वास्तव

में एक ही आत्मा है, मिथ्याभिमान से उसमें नानात्वधी है यही स्वीकारना संगत है।

इस प्रकार इस पाद में जीव जगत् दोनों के विषय में विचार कर परमात्मा से उनके वास्तविक भेद का परिहार किया गया है। मंत्रराज की छठी व सातवीं व्याख्या में इन बातों का संग्रह हो जाता है। क्योंकि वहाँ ब्रह्म को सबका कारण कहा है इसलिये आकाशादिकारणता का संग्रह व्यक्त है। परमात्मा से अन्य जो भी है वह परमात्मा से जन्य है, अतः आकाशादि भी जन्य सिद्ध होते हैं। तथा अपनी शिवायता घोषित कर सर्वदा शिवायता की प्रार्थना से (श्लो. १८) जीव का शिव से वास्तविक अभेद प्रकाशित होता है। 'शिवाय मे' इस श्लोक में शिवाय—यह शिवसंबोधन तो है ही, 'मे' से इसका सामानाधिकरण्य भी आवृत्ति द्वारा कर लेने से अभिलषितार्थ स्पष्ट हो जाता है।

द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थपादे नवभिरधिकरणैरिन्द्रियाणामात्मसमुत्पन्नत्वं, परिच्छिन्नत्वं, देवताधीनत्वम्, ईश्वरस्यैव च प्राणादिनिर्मातृत्वमुक्तम्। तच्च चतुर्थव्याख्यानेऽन्तर्भूतं, तत्र शिवस्य ब्रह्मादिरूपत्वप्रतिपादनेन प्राणेन्द्रियादिकारणत्वनिरूपणात्। इति द्वितीयोऽध्यायः।

महाभूतों के व भोक्ता के विचार के बाद भौतिक इन्द्रियादि का विचार चौथे पाद में किया है ताकि इनका भी परमेश्वर से अत्यन्त भेद सिद्ध न हो जाये। इस पाद में नौ अधिकरण हैं—

(१) प्राण (इन्द्रियाँ) भी परमात्मा से ही पैदा होते हैं जैसे अन्य वस्तुएँ होती हैं।

(२) इन्द्रियों की संख्या ग्यारह है। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और मन—ये ग्यारह हैं। इस निर्णय का फल यही है कि ब्रह्म की अकार्यभूत भी कोई इन्द्रिय होगी यह शंका समाप्त होने से अद्वितीयता अखण्डित रहती है।

(३) इन्द्रियाँ सूक्ष्म व परिच्छिन्न हैं।

(४) मुख्य प्राण भी ब्रह्मकार्य है।

(५) पाँच वृत्तियों में बँटकर शरीर चलाने के लिये उसमें रहने वाला वायु ही प्राण है, न कोई अन्य तत्त्व है और न वायुसामान्य ही है। प्राण जीव के लिये उपकरण है, जीव से स्वतंत्र वस्तु नहीं। किंतु प्राण

आँखादि की तरह कारण नहीं है, इसके विलक्षण ही कार्य हैं जो शरीरस्थिति के लिये अपेक्षित हैं। कार्यभेद से यह पाँच नामों वाला हो जाता है।

(६) मुख्य प्राण भी सूक्ष्म व परिच्छिन्न है। जो तो कहीं प्राण को व्यापक कहा है वह उसके आधिदैविक रूप की दृष्टि से है, आध्यात्मिक दृष्टि से नहीं।

(७) प्राण देवताओं से अधिष्ठित होकर ही अपने कार्यों में प्रवृत्त होते हैं। किन्तु प्राणचेष्टाओं से देवताओं को भोग नहीं होता, भोग तो शारीर जीव को ही होता है।

(८) मुख्य प्राण और इन्द्रियाँ पृथक्-पृथक् वस्तुएँ हैं। यह निर्णय श्रुतिविरोध के परिहारार्थ अपेक्षित है।

(९) नाम-रूप का व्याकरण—व्यक्तीकरण—ईश्वर का ही किया हुआ है, जीव का नहीं। व्यक्त जगत् में जैसे मांसादि पृथिवीमय हैं वैसे वाणी व मन भी क्रमशः तेजोमय और पृथ्वीमय हैं। स्थूल संसार में महाभूतों का मिला-जुला रूप ही उपलब्ध होता है, शुद्ध महाभूत स्थूल रूप में नहीं मिलते। जिस महाभूत की अधिकता होती है, मिले-जुले रूप को भी उसी के नाम से कह दिया जाता है।

ये विषय भी मंत्रराज की चौथी व्याख्या में समा गये हैं क्योंकि शिव को ब्रह्मादि रूप वाला बताने से वही प्राण-इन्द्रियादि का कारण है यह भी बता दिया है। प्रजापति (ब्रह्मा), विष्णु आदि इंद्रियों के अधिष्ठाता होने से ऐसा सूचित होना संगत है। इस प्रकार शारीरक के द्वितीयाध्याय का मन्त्रराज व्याख्या में अन्तर्भाव बता दिया।

अथ साधनाख्यतृतीयाध्यायस्य प्रथमे पादे षड्भिरधिकरणैः जीवस्य भाविशरीर- बीजरूपभूतसूक्ष्मवेष्टितस्यैव इतो गमनम्, आरोहणमवरोहणं च, सस्यादौ जीवस्य न जन्म किन्तु संश्लेषमात्रं, प्रथमाहुतौ श्रद्धाशब्देन अपां प्रतिपादनम्, उपासनाफलभोक्तृत्वं चोक्तम्। तच्च चतुर्थव्याख्यानेऽन्तर्भूतम्। तत्र 'शिवो ब्रह्मादिरूपः स्याद्' (श्लो. ६) इत्यादिना पञ्चाग्निविद्यादिगन्तव्यब्रह्मलोकाद्यधिष्ठातृत्वस्य परमात्मनः शिवस्यैव निरूपणाद्; 'अर्थं धर्मं च कामं च वाञ्छंश्च जगदीश्वरम्'

(श्लो. १०) इति सकलकर्मोपासनाफलभोग्यप्रदत्वस्यापि परमेश्वरस्यैव निरूपणात्।

प्रथमाध्याय में अद्वितीय शिव की प्रामाणिकता सिद्ध कर द्वितीयाध्याय में उसके विषय में संभव संशयों का निराकरण किया। अब तीसरे अध्याय में उसकी उपलब्धि के साधनों को बताना है। वेदान्त विचार इसलिये तो किया नहीं जाता कि कुछ करना है तो वही कर लें, बल्कि इसलिये किया जाता है कि मोक्ष होवे: 'न हि वेदान्तवाक्यानि निर्णेतव्यानीति निर्णीयन्ते किन्तु मोक्षमाणानां तत्त्वज्ञानोत्पादनाय' (भामती २.२.१)। अतः इतिकर्तव्यता का बोध अनिवार्य है। तीसरे अध्याय में यही मुख्य विषय है। प्रथम पाद में जीव के गमनागमन के विचार से वैराग्य का प्रतिपादन किया है। इसमें छह अधिकरण हैं—

(१) जीव जब देहान्तर प्राप्ति के लिये जाता है तब देह के बीजरूप सूक्ष्म महाभूतों सहित ही जाता है। अतः इन्द्रियों को व्यापक मानना या प्रतिशरीर अभिनव उत्पन्न होने वाला मानना, केवल मन को परशरीरगामी मानना, आदि वादिकल्पनायें निर्मूल हैं। नवीन देह की उत्पत्ति में कर्म (अदृष्ट) निमित्त कारण होता है। इन्द्रियाँ, मन, व प्राण जीव के साथ ही जाते हैं। पंचाग्निविद्या में प्रथम आहुति 'श्रद्धा' शब्द से कही है, वहाँ श्रद्धा से जल (महाभूत) ही समझना उचित है। जो तो परलोक में यहाँ से गये जीवों को देवता खा जाते हैं ऐसा कहा है (छां. ५.१०.४) वह इतना ही बताने के लिये है कि यहाँ से गये जीव देवताओं के गुणभूत होते हैं जैसे नौकर आदि राजादि के गुणभूत होते हैं।

(२) परलोक से लौटते समय जीव कुछ अदृष्ट साथ लिये हुए ही लौटता है। यद्यपि सामान्यतः आचार—शील—और शुभाऽशुभ कर्मों को पृथक् समझा जाता है तथापि सच्छील, शुभकर्म और दुःशील अशुभ कर्म ही है। कुछ विशेष कर्म ही शील नाम से कह दिये जाते हैं।

(३) इष्ट आदि श्रौत कर्म न करने वाले चंद्रलोक को नहीं जाते बल्कि यमलोक ही जाते हैं। उन्हीं पापियों के लिये सात नरक बने हैं। देवलोक जाने के लिये उपासना की और पितृलोक जाने के लिये सत्कर्म

की आवश्यकता जरूर पड़ती है। पापी लोग नरकादि जाते व लौटते हैं, वे पंचाग्नि प्रक्रिया से नहीं आते।

(४) उत्तम लोकों से लौटते हुए जो कहा है कि जीव वायु आदि हो जाता है (छां ५.१०.५) उसका इतना ही मतलब है, उसका शरीर आकाश की तरह सूक्ष्म हो जाता है, वायु से नियंत्रित हो जाता है, धूमादि से संबद्ध होता है इत्यादि।

(५) आकाशादि की समानता आदि तो अल्पकाल के लिये होती है किन्तु चावल आदि से जुड़ जाने के बाद वहाँ से गर्भ बनने में बहुत समय लगता है।

(६) चावल आदि से जुड़कर बैठे जो स्वर्गादि से लौटे जीव होते हैं उन्हें उन चावल आदि के कूटने-पकाने आदि से कोई भोग नहीं होता। जो तो कर्मवश चावल योनि में उत्पन्न होते हैं उन्हें ही कूटने आदि से दु:खादि होता है। यज्ञ के अंगरूप से विहित हिंसादि पाप को उत्पन्न नहीं करती क्योंकि विहित कर्म से पाप हो नहीं सकता। पाँचों या यथासंभव अग्नियों से निकलकर जब गर्भादि द्वारा शरीर मिलता है जिसमें जीव को अभिमान हो जाता है तभी से उसका भोग प्रारंभ हो जाता है।

यह सारा भाव मंत्रराज की चौथी व्याख्या से समझ लेना चाहिये। वहाँ शिव को ब्रह्मादि रूप वाला कहकर ब्रह्मलोक का अधिष्ठाता सूचित करने से ब्रह्मलोकपर्यन्त की सारी गति-आगति, गन्तृसंघात व गमागम में होने वाले भोग बता दिये गये हैं। चारों, पुरुषार्थों की सिद्धि ईश्वर ही करते हैं यह भी वहाँ कहा होने से सभी कर्मों व उपासनाओं के फलभोग की प्रक्रिया सूचित हो जाती है। वस्तुतस्तु सत्कर्म की समाप्ति पर बड़ी मुश्किल से पुन: मानवदेह मिलता है यही यहाँ बताना है ताकि सर्वथा वैराग्य होवे। 'सर्वं त्यजामि' (श्लो. १०) से यही संगृहीत किया है। हमारे आचार्य चरणों ने तो 'अर्थं धर्मं कामं च त्यजामि' ऐसा अन्वय मानकर यह भाव स्पष्ट ही कर दिया है।

अथ साधनाख्यतृतीयाध्यायस्य द्वितीयपादेऽष्टभिरधिकरणैः ब्रह्मणोऽसङ्गत्वनिरूपणाय स्वप्नादिसृष्टेर्मिथ्यात्वं, ब्रह्मणो निषेधातीतत्वेन सत्यत्वं, तदन्यस्याऽवस्तुत्वं च, कर्मफलोत्पत्तिं प्रति ईश्वरस्यैव कर्तृत्वं नाऽपूर्वस्य इत्यादि प्रतिपादितम्। तच्च द्वितीयव्याख्यानेऽन्तर्भूतम्। तत्र 'नमामि देवदेवेशं सकामोऽकाम एव वा' (श्लो. ३) इति ब्रह्मण एव सर्वकामप्रदत्वनिरूपणात्।

विरक्त साधक को चाहिये कि महावाक्य समझ आये इसके लिये महावाक्य में प्रयुक्त पदों का सही अर्थ स्पष्ट जान ले। अत: द्वितीय पाद में तत्पद और त्वम्पद के अर्थों का प्रदर्शन है। इसमें आठ अधिकरण हैं—

(१) स्वप्न में जो दीखता है वह केवल मायिक है, किसी व्यावहारिक बात का सूचक भले ही हो। हालाँकि जीव ईश्वर के अंश जैसा ही है फिर भी जीव में ईश्वरता तिरोहित है जो साधनादि से भगवत्कृपा होने पर व्यक्त हो जाती है। जीव के बन्धन और मोक्ष दोनों ईश्वर के कारण ही होते हैं : ईश्वरस्वरूप को न जानने से बन्धन और उसके अपरोक्ष से मोक्ष। जीव की ईश्वरता के तिरोधान का कारण अविद्यावश देहाभिमान ही है।

(२) सौषुप्त जीव का आधार नाडियाँ, पुरीतत् (हृदय-वेष्टन) व ब्रह्म होते हैं। यहाँ विशेष ध्यान देने लायक इतना ही है कि जीव सुषुप्ति में ब्रह्म में आधारित रहता है व उठने पर उसी से उठता है। शरीरद्वयाभिमान न रहने से ही ब्रह्माधारता तथा उक्ताभिमान रहने से ही उससे उठना कहा जाता है क्योंकि वस्तुत: तो जीव ब्रह्म से कथंचिदपि भिन्न नहीं है।

(३) जो जीव सोता है वही उठता है। ब्रह्म से अभिन्न होकर सर्वथा न उठना केवल अविद्या निवृत्ति से ही संभव है। यदि जीव व ब्रह्म में कुछ भी भेद होता तो जैसे समुद्र में पड़ चुकी पानी की बूंद को वहाँ से अविकल निकाल नहीं सकते, वैसे सुषुप्ति में ब्रह्मसम्पन्न हुये जीव का भी जगने पर अविकल निकलना संभव न होता। यह संभव तो इसी से होता है कि उपाधिसंपर्कवशात् ब्रह्म ही जीव रूप से व्यवहृत होता है, अत: जैसे वही घटाकाश यावद्घटभावी होता है वैसे यावदुपाधिभावी वही जीव रहता है। उपाधिनाश तो एकमात्र ज्ञान से होता है। सुषुप्त्यादि में तो उसका केवल अव्यक्तभाव होता है, विनाश नहीं।

४. मूर्च्छा में जीव ब्रह्म से संपन्न नहीं होता किन्तु क्योंकि सुषुप्ति की तरह संज्ञाहीन (बेहोश) रहता है इसलिये कह देते हैं कि वह मूर्छा में ब्रह्म से आधा संपन्न होता है । यह समझना इसलिये अपेक्षित है कि जीव स्वयं को इस अवस्था वाला कहीं वास्तव में न मान ले । आधी सम्पन्नता समझ लेने पर मूर्च्छावस्था के अनुभव को औपाधिक ही निश्चित कर सकते हैं, अन्यथा असम्पन्नता मानने पर वही जीव की अवस्था समझी जा सकती थी और पूर्ण सम्पन्नता मानने पर प्रत्यभिज्ञायमान तात्कालिक अनिष्टानुभव से ब्रह्मभाव की अपुमर्थता समझी जा सकती थी ।

५. परमात्मा स्वभाव से निर्विशेष है, भ्रमवश सविशेष प्रतीत होता है । अतः सविशेष स्वरूपविशेष परमात्मा से अलग नहीं हैं । वास्तव में वह रूपादिरहित ही है । अतएव श्रुति ने मौन से ही उसका उपदेश बताया है : बाष्कलि ने बाध्व से परमात्मस्वरूप पूछा तो बाध्व चुप बैठ गये । उसने फिर-फिर पूछा तो उन्होंने कहा 'बता तो रहा हूँ ! तुम समझ नहीं रहे । यह आत्मा उपशान्त है—जिसके सहारे उसे बता सकें ऐसा कुछ उसमें नहीं है ।' इसीलिये परमात्मा की सविशेषता को जल में प्रतिफलित सूर्य आदि की तरह उपाधिकृत मिथ्या ही बताया है । सविशेषरूप उपासनादि के लिये शास्त्रों में वर्णित हैं । निर्विशेष प्रतिपादक वाक्य तो अवगतिनिष्ठ ही हैं ।

६. 'नेति नेति' (बृ. २.३.६) वाक्य द्वारा ब्रह्म से अभिन्न प्रतिषेद्धा को छोड़कर ही बाकी सबका निषेध है क्योंकि किसी वास्तविक का सहारा लिये बिना अपरमार्थ या अवास्तविक समझकर किसी का निषेध नहीं किया जा सकता । रस्सी के सहारे ही तो साँप का निषेध होता है । अनिषिद्ध ब्रह्म साक्षिमात्र होने से विषयतया ग्रह्य नहीं है । समाधि में इसका स्पष्ट भान होता है । उससे अविद्या निवृत्त हो जाती है, जीव अनंत आत्मा से प्रतीतितः भी भिन्न नहीं रह जाता ।

७. ब्रह्म से परे कोई अन्य तत्त्व नहीं है । जो तो उसे सेतु आदि कहा है वह भी उससे परे कुछ है यह बताने के लिये नहीं बल्कि वही सबका नियामकादि है यह समझाने के लिये है ।

८. ईश्वर से ही कर्मफल मिलता है । जड होने से अदृष्ट फलप्रदाता हो नहीं सकता । एवं च वेदांत में भाग्यादि ईश्वरेच्छा से पृथक् कुछ नहीं है ।

ये सारी बातें मंत्रराज की दूसरी व्याख्या में समाविष्ट हैं । वहाँ कामना होने पर व न होने पर दोनों हालतों में महादेव को नमन कहा था अतः भोग-मोक्ष दोनों का दाता वही बताया है । इस प्रकार अन्त्य अधिकरण स्पष्टतः उक्त है । दैन्य (श्लो. २) द्वारा जीव का स्वरूप द्योतित होने से प्रथम चार अधिकरण भी संगृहीत हैं । 'अदैन्यलब्धये' ऐसा भी छेद समझकर जीव का शोधित रूप भी प्रतिपादित है । 'देवदेवेशम्' (श्लो. ३) से बाकी चार अधिकरण समझा दिये हैं । सकामोपास्य बताकर सविशेष व अकामोपास्य बताकर निर्विशेष का वर्णन है । 'देवश्चासौ देवेशश्च' ऐसा विग्रह होने से देवशब्द से स्वप्रकाशता वाच्य होने से नेत्यादिवाक्य से अनिषेध्यता का कथन है । देवेश से परमता कही है । अथवा एवकार भिन्नक्रम है 'देवेशमेव' यह सम्बंध है 'यो देवेश एव तम्' यह अर्थ है । अतः उससे अन्य कोई परम नहीं यह भी कह दिया है ।

अथ तृतीयाध्यायस्य तृतीयपादे षट्त्रिंशद्भिरधिकरणैः छान्दोग्यबृहदारण्यकश्रुत्युक्तयोः पञ्चाग्निविद्योपासनयोः विध्यनुष्ठानफलसाम्येन एकत्वं, गुणोपसंहारस्य कर्तव्यत्वं, नानोपासनाकथनं विकल्पेन समुच्चयेन वा, प्रतीकोपासनायाम् ऐच्छिकत्वं विकल्पसमुच्चययोः यथाकाम्यं चोक्तम् । तच्च द्वितीयव्याख्यानेऽन्तर्भूतम् । तत्र ईश्वरस्य सर्वकर्मफलप्रदत्वनिरूपणाद् उपासनाप्रकाराणां च ईश्वराराधनत्वात् ।

वेद में ज्ञानलाभ के उपायरूप से कुछ उपासनायें विहित हैं जिनके स्वरूप का निर्णय आवश्यक है जिससे साधक की निःशंक प्रवृत्ति हो एवं वेद ने जो निर्विशेष का उपदेश दिया है उन उपदेशों का तालमेल बैठाना जरूरी है जिससे तत्त्वविषयक संदेह न रहे इसलिये तीसरा पाद प्रारंभ किया गया है । इसमें छत्तीस अधिकरण हैं –

१. वेदान्तों में अनेकत्र विहित होने से उपासना विभिन्न नहीं हो जाती क्योंकि प्रयोजन, रूप, विधि आदि तो सर्वत्र समान ही होते हैं । विज्ञेयवस्तु को ही उपासना का 'रूप' कहते हैं । कुछ गुणों का भेद होने पर भी गुणी उपासना में भेद नहीं हो जाता और विभिन्न गुणों को एकत्र तो किया ही जा सकता है । कुछेक गुण तो केवल स्वाध्याय के लिये विहित हैं अतः उनसे विद्या में भेद की प्राप्ति नहीं होती । स्वयं श्रुति ने 'सारे वेद जिस परम पद को बताते हैं' (कठे २.१५) कहकर विद्याभेद का निरास किया है ।

२. गुणीभूत उपासना का अभेद होने से व्यस्ततया पठित गुणों को एकत्र कर लेना चाहिये ।

३. जहाँ उपक्रमादिवश रूप ही विरुद्ध हो वहाँ विद्या का ऐक्य नहीं होता । अतः छांदोग्य और बृहदारण्यक की उद्गीथविद्यायें भिन्न-भिन्न हैं ।

४. छांदोग्य में 'ॐ इस अक्षर की उद्गीथ की उपासना करे' (१.१.१) यह कहा है । वहाँ उद्गीथ ॐकार का विशेषण है अर्थात् उद्गीथ-भक्ति का अवयवभूत ॐकार वहाँ विवक्षित है ।

५. एक ही प्राण की उपासनाविधियों में अनेकत्र जो गुण कहे हैं उनको एकत्र कर लेना चाहिये ।

६. ब्रह्मस्वरूप का प्रतिपादन करते हुए जो विशेषतायें कही हैं उन्हें भी एकत्र कर लेना चाहिये । किन्तु ब्रह्मध्यानार्थ कहे गुण ज्ञेय स्वरूप समझने में संगृहीत नहीं करने चाहिये ।

७. कठवल्ली में इन्द्रियों से अर्थों को उनसे मन को परे तथा ऐसे ही अनेक वस्तुओं को पूर्व वस्तुओं से परे बताते हुए अंत में पुरुष को सबसे परे कहा है । वहाँ पुरुष की ही परता विवक्षित है, अन्यों की परता में तात्पर्य नहीं है ।

८. ऐतरेयक में बतायी सृष्टि भी परमात्मा से ही बतायी समझनी चाहिये । ऐसे ही छान्दोग्य में सत् से जो सृष्टि कही है वह भी सत् को आत्मा का ही नाम मानकर कही है ।

९. छान्दोग्य व बृहदारण्यक में आचमन के साथ यह दृष्टि विहित है कि 'मैं इस आचमन से प्राण को सवस्त्र कर रहा हूँ' । वहाँ केवल दृष्टि की ही विधि माननी चाहिये क्योंकि आचमन तो अन्यत्र विहित है ही, उसकी पुनः विधि व्यर्थ होगी ।

१०. एक शाखा में भी अनेकत्र विहित समान रूपादि वाली उपासनायें विभिन्न नहीं मानी जाती ।

११. विद्या एक होने पर भी जिन स्थानविशेषों के सम्बंध से जिन गुणविशेषों का विधान है वे गुण उसी स्थान से संबद्ध रहते हैं, स्थानान्तर से नहीं । उदाहरणार्थ सत्य ब्रह्म की उपासना में आधिदैविक उपास्य का अहः नाम तथा अध्यात्म उपास्य का अहम् नाम कहा है । उपासना एक होने से नामों का व्यत्यास या अध्यात्मादि प्रत्येक में दोनों नाम नहीं समझे जा सकते ।

१२. स्थानविशेषसम्बंध के कारण ही शाण्डिल्यादि विद्याओं में पराक्रम का निर्विघ्न धारण आदि आधिदैविक गुणों का संग्रह नहीं किया जाता ।

१३. छांदोग्य व तैत्तिरीय में जो पुरुषविद्या है उसमें रूपभेद बहुत है अतः यत्किंचित् साम्यवश विद्यैक्य नहीं मान सकते फलतः गुणों को एकत्र नहीं कर सकते ।

१४. वेदान्तों में या उनकी संनिधि में पठित जिन मंत्रों व कर्मों का अन्यत्र विनियोग हो उनका केवल संनिधि के आधार पर विद्या का अंग होना नहीं मान सकते ।

१५. ज्ञानी के सुकृत-दुष्कृत की निवृत्ति मात्र जहाँ सुनी जाती है वहाँ अन्य प्रसंग से यह भी समझ लेना चाहिये कि सुहृदादि सुकृतादि को ग्रहण भी करते हैं । यद्यपि ग्रहण करना विद्या की स्तुतिमात्र प्रयोजन वाला है तथापि अर्थ के तालमेल के लिये अर्थवाद में भी गुणोपसंहार किया जाता है । किं च ज्ञानी के सुकृतादि का 'हिलना' कहा है । वहाँ हिलने का अर्थ छूटना समझना होगा क्योंकि उसके साथ ही यह भी कहा है कि सुहृदादि सुकृतादि को ग्रहण करते हैं तथा छूटे बिना हिलने मात्र से ग्रहण का प्रसंग नहीं उठता ।

१६. देवयान मार्ग से जो सिद्ध ब्रह्मोपासक ब्रह्मलोक को जाते हैं उनके सुकृत-दुष्कृत देह छूटते ही उनसे वियुक्त हो जाते हैं, मार्ग में कुछ दूर साथ नहीं जाते ।

१७. उपासकों को ही देवयान की प्राप्ति होती है, ब्रह्मवेत्ता का कहीं गमन नहीं होता ।

१८. सगुण ब्रह्म की चाहे जिस उपासना को किया जाये, सिद्ध उपासक को देवयान मार्ग अवश्य मिलता है । पंचाग्निविद्या के उपासकों को भी सिद्धि होने पर देवयान मिलता है ।

१९. तत्त्वज्ञान के समकाल यद्यपि मुक्ति हो जाती है तथापि जिन महापुरुषों को ईश्वर ने किन्हीं कार्यों के लिये अधिकारी बना दिया है वे जीवन्मुक्त रहते हुए अधिकारकालपर्यन्त कार्य करते हुए रहते हैं व उसके बाद विदेह मुक्ति पा जाते हैं ।

२०. अक्षर ब्रह्म में कोई विशेषण नहीं हैं अतः जहाँ भी अक्षरोपदेश है वहाँ उन सब विशेषों का निषेध समझ लेना चाहिये जो कहीं भी कहे गये हैं ।

२१. मुण्डकादि के 'द्वा सुपर्णा' आदि व कठ के 'ऋतं पिबन्तौ' आदि मंत्र द्वारा समान बात ही बतायी जा रही है । अतः कठ में ईश्वर को भोग करने वाला नहीं कहा है । मुण्डकादि के 'अनश्नन्' से एकवाक्यता जरूरी है क्योंकि विषय एक ही है । अतः भोग करने वाले के साहचर्य से ही ईश्वर को 'पीता हुआ' कह दिया है ।

२२. बृहदारण्यक में दो ब्राह्मणों में (३.४ और ३.५) साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म का वर्णन है पर दो बार वर्णन होने पर भी है एक ही ब्रह्म का । विशेष आशंकाओं के समाधानार्थ दो बार कहना पड़ा है जैसे श्वेतकेतु को नौ बार कहना पड़ा कि वह ब्रह्म है ।

२३. अहंग्रहोपासनाओं में 'उपास्य मैं हूँ' एवं 'मैं उपास्य हूँ' यों परस्पर विशेषण-विशेष्यभाव से दोनों तरह की दृष्टि बनानी चाहिये । एकतर दृष्टि से अत्यंत अभेद स्फुट न होने से एवं ऐतरेय, जाबाल आदि में ऐसा विहित होने से द्विविध अनुसंधान सार्थक है ।

२४. जहाँ उपासनान्तर के उपास्य का परामर्श होने से 'रूप' का अभेद हो वहाँ आर्थवादिक फलान्तर से उपासनाभेद नहीं होता, दोनों उपासनायें आपस में सम्बद्ध हो एक ही हो जाती हैं । उदाहरणार्थ बृहदारण्यक में दो ब्राह्मणों में (५.४; ५.५) कही सत्यविद्या एक ही है । जहाँ तो कर्मसाहित्य व तद्राहित्य आदि इतिकर्तव्यता का एवं फल का भेद हो वहाँ उपास्य एक होने पर भी उपासना एक नहीं होती । उदाहरणार्थ बृहदारण्यक में कही (५.५) और छांदोग्य में कही (१.६; ४.१५) अक्षिविद्या विभिन्न ही हैं क्योंकि छांदोग्य में उसकी कर्मांगता कही है जबकि बृहदारण्यक में कही उपासना स्वतंत्र है ।

२५. ब्रह्मध्यान के लिये कही विशेषतायें ज्ञेय ब्रह्मप्रतिपादन में भी ज्ञेय की स्तुति के लिये उपसंहृत कर लेनी चाहिये यदि ध्यान व ज्ञान के उपदेशों में अनेक समानतायें हों । उदाहरणार्थ छांदोग्य में (८.१) उपासनार्थ दहरविद्या आयी है व बृहदारण्यक में (४.४.२२) निर्गुणोपदेशार्थ दहरविद्या आयी है । एवं च विद्याभेद तो है किंतु क्योंकि उभयत्र हृदय में जानने को कहा है, जानने का (—ध्यान व ज्ञान का) विषय परमेश्वर ही है और उस परमेश्वर की विशेषतायें भी समान बतायी हैं इसलिये निर्गुणविद्या में सगुणविद्योक्त गुणों का निर्गुणतत्त्वप्रशंसा के लिये समावेश कर लेना चाहिये तथा सगुणविद्या में कहे गुणों में ही निर्गुणविद्योक्त गुणों का अन्तर्भाव कर लेना चाहिये । निर्गुणविद्योक्त गुणों की उपास्यता तो विधि के बिना संभव नहीं, पर उपसंहार से अन्तर्भाव तो समझा ही जा सकता है ।

२६. प्राणाग्निहोत्र भोजनप्राप्ति पर अवश्य करना चाहिये । भोजन ही न मिले तो जलादि द्रव्यान्तर से प्राणाग्निहोत्र नहीं किया जा सकता ।

२७. कर्मांगावबद्ध उपासनायें कर्म साफल्य के लिये अनिवार्य नहीं हैं, उन्हें करने से कर्म विशिष्टफलक होता है व न करने से कर्म अपना फल तो देता ही है ।

२८. संवर्गविद्या यद्यपि एक ही है और वायु व प्राण भी सर्वथा अलग नहीं हैं तथापि उस उपासना में वायु व प्राण को अलग-अलग समझते हुए ही वायु में व प्राण में उन उन दृष्टियों को करना होगा जो उनमें करने के लिये विहित हैं ।

२९. अग्निरहस्य में विहित मनश्चित् आदि उपासना पुरुषार्थ होने से कर्मावबद्ध नहीं है ।

३०. देह के रहते भी ज्ञानादि आत्मधर्मों के न रहने से निश्चित होता है कि शरीर से आत्मा पृथक् ही है ।

३१. कर्मांग उद्गीथादि उपासनायें सभी शाखाओं के उद्गीथादि में की जा सकती हैं, केवल जिस शाखा में विधि है उसी के उद्गीथादि में की जायें ऐसा नियम नहीं ।

३२. पौर्वापर्यालोचन से एकवाक्यता संभव होने पर मध्य में अनेक वाक्य मानना अनुचित होने से छांदोग्य में (५.११.१८) विहित वैश्वानरविद्या में द्यु आदि प्रत्येक में मूर्धादि दृष्टि का पृथक्-पृथक् विधान नहीं है बल्कि सबको मिलाकर ही ध्यान करना विहित है ।

३३. विभिन्न विधायक शब्दों से विभिन्न गुणों से विशिष्ट उपास्य वाली उपासनायें अलग-अलग ही रहती हैं । विशेष्य उपास्य के ऐक्य से सब उपासनाओं का अभेद नहीं होता अतः ईश्वर की ही उपासना होने पर भी दहर, शाण्डिल्य आदि विद्यायें पृथक्-पृथक् ही हैं । जो तो इस पाद के प्रथम अधिकरण में अनेकत्र विहित उपासनाओं का अभेद कहा था वह समान विधि, समान रूप आदि वाली उपासनाओं के लिये है जबकि यहाँ शब्द (विधि), गुण, फल, 'रूप', नाम आदि जिनके पृथक् हैं उन उपासनाओं का पार्थक्य कहा है ।

३४. अहंग्रहोपासनाओं का समुच्चित अनुष्ठान नहीं करना चाहिये बल्कि किसी एक उपासना को ही उपास्यविषयसाक्षात्कारपर्यन्त तत्परतापूर्वक करना चाहिये ।

३५. काम्यफलक प्रतीकोपासनाओं का समुच्चय भी किया जा सकता है क्योंकि इनमें हर उपासना का अलग फल होता है जबकि अहंग्रह का तो उपास्यसाक्षात्काररूप एक ही फल होता है ।

३६. कर्मांगावबद्ध उपासनाओं का अंगसमुच्चय होने पर समुच्चय हो यह नियम नहीं क्योंकि वे उपासनायें भी काम्य होने से फलेच्छावश ही की जाती हैं ।

इस प्रकार इस पाद में सगुण तथा निर्गुण विद्याओं में कहाँ कैसे गुणोपसंहार करना चाहिये यह निर्णीत किया गया है । मंत्रराज की दूसरी व्याख्या से यह पाद गतार्थ जान लेना चाहिये । वहाँ सभी कर्मों का फल देने वाला ईश्वर ही है यह बताया है और नमः शब्द से सेवा अर्थात् आराधना कही है । एवं च क्योंकि सभी ईश्वरोपासनायें ईश्वर की आराधना ही हैं इसलिये उनका संग्रह सेवा कह देने से हो गया । निर्गुण विद्या का संग्रह भी अकामकृत नमन से या ज्ञप्ति कहने से (श्लो. ३) हो गया । जो कुछ अनीश्वरोपासनायें इस पाद में कही हैं उनका भी सर्वकर्मफलप्रद ईश्वर से परंपरया सम्बंध होने से वे भी सेवा से उपलक्षित हो जाती हैं । अतः यह पाद भी 'नमः शिवाय' के अर्थ समझने से समझ आ जाता है ।

अथ तृतीयाध्यायस्य चतुर्थपादे सप्तदशभिरधिकरणैः आत्मज्ञानस्य स्वतन्त्रत्वम्, आत्मबोधस्य कर्मानपेक्षत्वं, विद्यायाः स्वोत्पत्तौ कर्मसापेक्षत्वं, भ्रष्टोद्धरितसः प्रायश्चित्तस्यामुष्मिकशुद्धिजनकत्वं न व्यवहारार्हत्वजनकत्वं, सालोक्यादिमुक्तीनां सातिशयत्वं, निर्वाणमुक्तेश्च निरतिशयत्वमुक्तम् । तच्च चतुर्थव्याख्यानेऽन्तर्भूतम् । तत्र ईश्वरस्य ब्रह्मादिरूपत्वस्य शुद्धस्वरूपत्वस्य च निरूपणात् ।

तीसरे अध्याय में जीव की गति आदि बताकर वैराग्य का निरूपण किया, विरक्त के करने योग्य पदार्थविचार को प्रस्तुत किया और परमात्मा की प्राप्ति के उपायों में से मुख्यतः जो आराद् उपकारक हैं ऐसी उपासनाओं के विषय में निर्णय किया । अब साक्षाद् निर्गुणविद्या के अंतरंग व बहिरंग साधनों का विचार बाकी है जो इस चौथे पाद में उपस्थित है । इसमें सत्रह अधिकरण हैं ।

१. वेदान्त में बताया आत्मज्ञान स्वतन्त्र ही — कर्म की सहायता के बिना ही — मोक्ष रूप पुरुषार्थ को सिद्ध करता है । संसारी आत्मा का बोध तो कर्म में प्रेरित करता है पर वेदान्तबोध्य अकर्त्रात्मनिश्चय नहीं । ज्ञानियों के व्यवहार तो उनके संस्कारादि के अनुसार होते हैं अतः कुछ ज्ञानी कर्म करते हुए व कुछ कर्म छोड़ते हुए देखे सुने जाते हैं । फलतः किसी एक ज्ञानी के व्यवहार से यह नहीं समझ सकते कि ज्ञान कर्म की अपेक्षा रखता है । शास्त्र कहीं भी ज्ञान को फलदान में किसी के अधीन नहीं कहता । अद्वैतनिश्चय कर्मप्रवृत्ति का निरोधक होने से उसके उपकार को चाह नहीं सकता । ब्रह्मज्ञान का मुख्य अधिकारी सर्वकर्मसंन्यासी हैं, इससे भी ज्ञान की कर्म-अनपेक्षा दृढ हो जाती है ।

२. संन्यासाश्रम वेद में विहित है अतः अधिकारी को उसका अनुष्ठान अवश्य करना चाहिये । परमात्मनिष्ठा के लिये आवश्यक है कि अन्य किसी कर्तव्यादि का अनुसंधान न हो । अन्य आश्रमों में कर्तव्य बने ही रहते हैं क्योंकि उन आश्रमों में रहते उन कर्तव्यों का त्याग पापहेतु होता है । संन्यासाश्रम में साधकावस्था में जो कर्म विहित हैं वे तो ब्रह्मनिष्ठा में सहायक ही बनते हैं । अतः ज्ञाननिष्ठा के लिये पारमहंस्य अवश्य ग्राह्य है ।

३. उद्गीथादि की प्रशंसा उनकी उपासना के विधान के लिये है, अन्यथा प्रशंसामात्र निष्प्रयोजन होगी ।

४. ब्रह्मज्ञान के प्रसंग में आयी कथायें ज्ञान में ही रुचि व समझने में सुकरता के लिये हैं, अश्वमेधांगभूत पारिप्लव प्रयोग के लिये नहीं ।

५. विद्या को अपना प्रयोजन-मोक्ष-सिद्ध करने के लिये आश्रम कर्मादि की अपेक्षा नहीं है ।

६. विद्या स्वयं उत्पन्न होने के लिये सभी कर्मों की अपेक्षा रखती है । अन्य कर्मों को विद्योत्पत्ति में बहिरंगतया उपयोगी समझना चाहिये जबकि शम दम आदि को अंतरंग, अतः कर्मान्तर संन्यास से छूटने पर भी शमादि तो विद्योदयपर्यन्त अवश्य अनुष्ठेय हैं ।

७. प्राण-संकट उपस्थित होने पर प्राणरक्षा के लिये अनिवार्य हो तो अभक्ष्य का भी भक्षण करने से प्राणोपासक को दोष नहीं लगता । ध्रुव ज्ञान के लिये अपेक्षित चित्तशुद्धि शुद्ध आहार से ही मिलती है, अशुद्ध से नहीं ।

८. मुमुक्षा न होने पर भी आश्रमकर्म तो कर्तव्य ही है । मुमुक्षा हो तो ये ही कर्म विद्योत्पत्ति में सहकारी हो जाते हैं ।

९. अनाश्रमी विधुरादि भी जप, उपवास, देवता-आराधना आदि से विद्याप्राप्ति के लिये प्रयत्न कर सकते हैं । यह अवश्य है कि आश्रमकर्म बेहतर साधन है ।

१०. जिसने संन्यास — नैष्ठिक ब्रह्मचर्य — स्वीकार कर लिया वह उसे छोड़े यह सर्वथा ग़लत है ।

११. नैष्ठिक ब्रह्मचारी यदि स्त्री से संपर्क (ग्राम्यधर्म) कर ले तो कुछ आचार्यों के मत में उस पाप का कोई प्रायश्चित नहीं है व अन्य आचार्य उसका प्रायश्चित स्वीकारते हैं ।

१२. चाहे प्रायश्चित हो, या न हो, जो नैष्ठिक ब्रह्मचारी व संन्यासी ग्राम्यधर्म का अनुष्ठान कर चुके, सज्जनों द्वारा उसका बहिष्कार तो किया ही जाना चाहिये ।

१३. कर्मांग उपासनायें ऋत्विकों को करनी चाहिये, यजमान का वे कर्तव्य नहीं हैं ।

१४. बृहदारण्यक में (३.५.१) मौन अर्थात् ध्यान या निदिध्यासन रूप सहकारिविशेष का विधान है । यह विधान विद्यावान् संन्यासी के लिये है । यद्यपि विद्या होने से स्वयं ही उसके दार्ढ्य के लिये यत्न संभव है तथापि यदि कथंचिद् बहिर्मुखता प्राप्त हो तो उसकी निवृत्ति के लिये यह विधि है । चारों आश्रम शास्त्रसिद्ध हैं, यथायोग्य इनका अनुष्ठान करना चाहिये ।

१५. बृहदारण्यक में (३.५.१) विद्वान् के लिये 'बाल्य' का विधान है । वहाँ बाल्य से भावविशुद्धि, दंभ-दर्पादिरहितता, ऐन्द्रिय विषयों की ओर अलोलुपता आदि ही विवक्षित हैं । वह अपनी विशेषता प्रकाशित न करता फिरे यह भाव है ।

१६. विद्या-साधन के अनुष्ठान से उसी जन्म में विद्यालाभ हो जाता है यदि कोई प्रतिबंधक न हो । यदि प्रतिबंधक हो तो वह अनुष्ठान जन्मान्तर में विद्योत्पत्ति में सहायक बनता है । श्रवणादि से भी विद्या तभी उत्पन्न होती है जब प्रतिबंधक न हो ।

१७. मुक्ति ब्रह्मरूप है अतः इसमें कोई अतिशयादि नहीं होता । फलतः ज्ञान का एकरूप ही फल होता है क्योंकि वह वस्तुतः नित्यसिद्ध होने से कोई 'फल' तो है नहीं ।

ये सारे विषय भी मंत्रराज की चौथी व्याख्या में अंतर्भूत हैं । वहाँ शिव को ब्रह्मादि सविशेष और तुरीय निर्विशेष (श्लो. ६) कहने से सविशेष फल व निर्विशेष फल कह दिया गया है । 'मन्ये वेदांतनिष्ठया' (श्लो. ८) से वेदांतज्ञान की पुरुषार्थता बतायी । सर्वत्याग कहने से (श्लो. १०) संन्यासाश्रम बताया । शिव की ब्रह्मादिरूपता कहने से उन रूपों को उपास्य सूचित किया, इससे तृतीयाधिकरण संगृहीत हो गया । इसी से ब्रह्मादिसम्बद्ध कथायें भी वेदान्त-मननोपयोगी कहने से चौथा अधिकरण समझा दिया । परमात्म-प्राप्ति के लिये बाकी सब छोड़ना कहने

से (श्लो. १०) ज्ञान को इतरापेक्षा नहीं यह स्पष्ट किया । दासताकथन से (श्लो. ९) विद्याप्राप्ति में कर्मापेक्षा बतायी । जैसे स्वामिरक्षार्थ दास का अकर्तव्यकरण भी क्षम्य होता है ऐसे प्राणरक्षार्थ उपासक का अभक्ष्यभक्षण भी निर्दोष है यह लक्षित होता है । 'इत्येव नम इत्युक्तम्' (श्लो. ९) से मोक्षेच्छा के बिना भी दासता-उपलक्षित आश्रमकर्म कर्तव्य बताये । दास शब्द के प्रयोग से अनाश्रमियों का भी संग्रह है क्योंकि दास किसी आश्रम में ही होता हो ऐसा नियम देखा नहीं जाता । 'मननं ध्यानमेव च' (श्लो. ७) में एवकार से मननोपारूढ ऊर्ध्वरिता का धर्मस्खलन निषिद्ध हो गया । इससे उसका प्रायश्चित्तयोग्यत्व तथा बहिष्कार्यत्व भी सूचित होता है । 'मुक्तिलाभाय ध्येयं तत्त्वं विवेकतः' (श्लो. १२) से मौनविधि स्पष्ट ही है । 'निर्णीतं तत्त्वगर्भं यत्' (श्लो. ११) से बाकी तीन अधिकरण संगृहीत हैं । 'अहं शिवः शिवोऽहं च मन्ये वेदांतनिष्ठया' (श्लो. ८) से अंतिम अधिकरण कण्ठतः उक्त है । इस प्रकार तृतीयाध्याय का चतुर्थपाद चौथी व्याख्या में पूर्णतः समाविष्ट है ।

यहाँ तक तीसरे अध्याय का मंत्रराजव्याख्या में अंतर्भाव स्पष्ट किया ।

अथ फलाख्यचतुर्थाध्यायस्य प्रथमपादे चतुर्दशभिरधिकरणैः श्रवणादीनामावर्तनीयत्वमुक्तम्, उपासनायामासनस्य नियतत्वं, ध्यानसाधनस्य ऐकाग्र्यस्य प्रधानत्वाद् दिग्देशकालानामनियमः, ज्ञानिनां पुण्यपापलेपाभावः, प्रारब्धस्य भोगेन नाशः, संचितकर्मविनाशः, ज्ञात्रा जीवेन स्वात्मतया ब्रह्मणो ग्राह्यत्वं, प्रतीकेऽहंदृष्ट्यभावः, नित्यकर्मणः तारतम्येन विद्यमानत्वम्, अधिकारिणां मुक्तिसद्भाव इत्याद्युक्तम् । तच्च चतुर्थव्याख्यानेऽन्तर्भूतम् । तत्र 'ध्येयं तत्त्वं विवेकतः' (श्लो. १२) इति विवेकादिद्वारा ध्यानसमाध्यादिपूर्वकत्वेन मुक्तेर्निरूपणात् ।

तृतीयाध्याय में साधनों का विस्तार से वर्णन था । चौथे में फलवर्णन करना है । प्रथमपाद जीवन्मुक्ति का प्रमुख प्रतिपादक है । किंतु प्रारंभ में साधनों के ही विषय में कुछ स्पष्टीकरण दिया गया है जो तृतीय में नहीं दिया गया । इस पाद में चौदह अधिकरण हैं —

१. तत्त्वनिश्चयरूप दृष्टफल वाले होने से श्रवणादि की तब तक आवृत्ति करनी चाहिये जब तक आत्मदर्शन न प्राप्त हो जाये ।

२. वेदान्तोपदेशों से ईश्वर को अपने से अभिन्न ही समझना चाहिये । इससे ईश्वर की संसारिता नहीं होती बल्कि संसारी की ही ईश्वरता हो जाती है ।

३. मन आदि प्रतीकों में जो ब्रह्मदृष्टि करनी है उसमें प्रतीक को आत्मा नहीं समझना चाहिये अर्थात् ब्रह्मप्रतीकभूत मन आदि मैं हूँ ऐसा नहीं समझना चाहिये ।

४. आदित्यादि प्रतीकों में ब्रह्मदृष्टि करनी चाहिये न कि ब्रह्म में आदित्यादि दृष्टि क्योंकि निकृष्ट में उत्कृष्टदृष्टि ही फलविशेष के लिये लोक में भी की जाती है, उत्कृष्ट में निकृष्टदृष्टि नहीं ।

५. कर्मांग उद्गीथ आदि में आदित्यादि दृष्टि करनी चाहिये, विपरीत नहीं, क्योंकि उन दृष्टियों से संस्कृत उद्गीथादि से कर्म में समृद्धि होना संगत है । स्वतंत्रफलक उपासनाओं में भी उद्गीथादि में ही आदित्यादि बुद्धि करनी चाहिये । फलावस्थ होने से आदित्यादि की श्रेष्ठता प्रसिद्ध है ।

६. बैठे हुए ही उपासना (ध्यान) करनी चाहिये क्योंकि यही संभव है । खड़े होकर ध्यान करने से गिरने की तथा लेटकर ध्यान करने से सो जाने की प्रबल संभावना है ।

७. क्योंकि दिशा, स्थान आदि से अंतर नहीं पड़ता इसलिये जहाँ एकाग्रता हो वहीं ध्यान कर लेना चाहिये । ऐसे ही जब एकाग्रता हो तब कर लेना चाहिये ।

८. मरणोत्तरकाल में फल देने वाली उपासना का मरणपर्यन्त अनुष्ठान करना चाहिये ।

९. ब्रह्मसाक्षात्कार होने पर पूर्वकृत पाप कर्म विनष्ट हो जाते हैं व ज्ञानोत्तर क्रियमाण पापकर्मों का मुक्त से कोई सम्बंध नहीं होता ।

१०. पुण्यकर्म भी पापों की तरह नष्ट और असम्बद्ध हो जाते हैं ।

११. प्रारब्ध कर्मों का नाश नहीं होता, विद्वान् भी उनका भोग करता है । इससे जीवन्मुक्ति सूत्रारूढ हो जाती है ।

१२. यदि ज्ञान से सभी पूर्वकृत सत्कर्मों का नाश होना है तो मुमुक्षु नित्यादि न करे, कीचड़ लगाओ फिर धोवो इससे अच्छा है लगाओ ही नहीं ? इस शंका के निरास के लिये सिद्धांत बताया है कि ज्ञान से नित्य-नैमित्तिक कर्म नष्ट नहीं होते । भाव है कि पूर्वकृत कर्म रहने पर उन्हें भोगने के लिये देहांतर लेना पड़ेगा इसीलिये उनका नाश आवश्यक है । नित्यादि तो देहांतरभोग्य फल देने वाले माने नहीं जाते अतः उनके नाश का कोई प्रयोजन नहीं और उनके अनाश से मुमुक्षु उन्हें करे यह भी स्थापित हो जाता है । यदि नित्यादि भी पितृलोकफलक हैं यही मान्य हो तो यहाँ उन्हीं नित्यादि का अविनाश समझना चाहिये जो विविदिषार्थ किये गये हैं । अन्य नित्यादि तो काम्यविशेष होने से विनष्ट होते हैं यही उचित है । यह बात 'तत्कार्यायैव' से सूचित है । तत् अर्थात् ज्ञान के कार्य के लिये ही नित्यादि हैं ऐसा सूत्रकार ने माना है । अतः जो पितृलोकार्थ होने से ज्ञानकार्यार्थ नहीं, उन्हें बचने वाला सूत्रकार नहीं कह रहे । जो तो सुहृदादि उसके पुण्य ग्रहण करते हैं आदि कहा है उसके विषय में पहले ही कह चुके हैं (३.३.१५ सूत्र २६ का भाष्य) कि वह विद्यास्तुति के लिये है अतः उसके विषय में विशेष आग्रह नहीं कर सकते

'विद्यास्तुत्यर्थत्वाच्चास्य उपायनवादस्य कथमन्यदीये सुकृतदुष्कृते अन्यैरुपेयेते इति नातीवाभिनिवेष्टव्यम् ।' फिर भी यदि समझना ही हो तो प्रारब्धातिरिक्त पुण्यादि-विषयक ही इसे समझना चाहिये । विनाशकथन का भी विरोध इसलिये नहीं है कि विद्वान् की दृष्टि में तो वे विनष्ट ही हैं क्योंकि उसे फल नहीं दे सकते । जैसे भर्जित बीज किसान की दृष्टि में विनष्ट ही हैं, भूखे की दृष्टि में चाहे कार्यकारी हों, ऐसे समझना चाहिये । यदि यह अधिकरण सगुणविद्वान्परक हो तो अभिप्राय है कि वह फलाभिलाषा न रख नित्य-नैमित्तिक तो विद्याभ्यास के साथ करता रहेगा । उसके कर्मों का अत्यंत नाश न होने से सुहृदादिग्राह्यत्व भी उक्तरीत्या संभव है ।

१३. विविदिषालाभार्थ (विद्या-प्राप्ति के लिये) जो अग्निहोत्रादि करने हैं वे उपासना समेत किये जायें तो शीघ्र फल होता है किंतु उपासना के बिना भी किये नित्यादि विद्योत्पत्ति तो कराते ही हैं । श्रवणादि अंतरंग कारणों की अपेक्षा तो दोनों स्थितियों में रहती है ।

१४. प्रारब्ध कर्म केवल भोग से क्षीण हो जाते हैं । उनके नाश के लिये कोई यत्न अपेक्षित नहीं । न ही वे विद्या को अभिभूत करते हैं । अतः प्रारब्ध समाप्ति पर विदेहकैवल्य स्वतः सिद्ध है ।

यह सब भी चौथी ही व्याख्या में समा गया है । वहाँ विवेकपूर्वक ध्यान का विधान होने से साधनों का और साधनपौष्कल्य से साध्य की नान्तरीयकता के कारण साध्य का वर्णन समझा जा सकता है । 'मुक्तिलाभाय ध्येयं' (श्लो. १२) से मुक्तिपर्यंत ध्यानादिसाधनाभ्यास स्पष्ट विदित है । 'अहं शिवः शिवोऽहम्' (श्लो. ८) से द्वितीयाधिकरण संगृहीत है । 'भिन्नं बुद्ध्वा' (श्लो. १२) से औचित्यवश मनआदि सभी उपाधियों में अहंदृष्टि के निषेध से तृतीयाधिकरण बोधित है । 'ईशं जगद्गुरुम्' (श्लो. १२) से उत्कृष्टता बताकर चतुर्थाधिकरणार्थ सूचित है । इसी से पंचम अधिकरण गतार्थ है । दास को सावधानी से उपासनाकाल में बैठना ही चाहिये यह

प्रतिपादित है । 'अहं दास इतीरणमित्येव नमः' (श्लो. ९) से एवकार द्वारा दिग्देशादि का नामोऽर्थ में असंग्रह स्पष्ट है । 'ध्यानमेव' (श्लो. ७) 'ध्येयम्' (श्लो. १२) यों ध्यान की पुनरुक्ति से उसे मरणावधि करने को कहा है । 'अहं शिवः' से नवा व दसवा अधिकरण गतार्थ है । 'मन्ये' से जीवन्मुक्ति कहकर ग्यारहवा अधिकरण संगृहीत है । 'नमसो नमने शक्तिः' (श्लो. ७) से नमनसूचित नित्य कर्मों की मुमुक्षुकर्तव्यता बोधित होने से बारहवे अधिकरण का मुख्य अभिप्राय कह दिया गया है । 'मंत्रेण ध्येयम्' (श्लो. १२) यह अन्वय होने से उपासना का कर्मसाहित्य कदा है, क्योंकि 'मंत्रेण' से मन्त्रजप ही समझा जा सकता है, अतः त्रयोदशाधिकरण भी प्रदर्शित है । 'तादात्म्यसम्बंधः' (श्लो. ७) द्वारा जीव-ब्रह्माभेद बताने से प्रारब्ध का अकिंचित्करत्व स्पष्ट है अतः अंतिम अधिकरण भी समझा दिया गया है । इस प्रकार पहला पाद इस व्याख्या से हृदयंगत हो जाता है ।

चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयपादे एकादशभिरधिकरणैः वागादीनां मनसि वृत्तिलयो न स्वरूपतः, तत्त्वविदो वागादीनां परमात्मनि निःशेषेण लयः, उपासकानां मूर्द्धस्थानादेवोत्क्रमणं, तेषां निशायामपि मृतानां रश्मिप्राप्तिः, तत्त्वविदः प्राणा नोत्क्रामन्ति इत्याद्युक्तम् । तच्च चतुर्थव्याख्यानेऽन्तर्भूतम् । तत्र ब्रह्मादिरूपिणो निर्गुणस्वरूपिणश्च परमात्मनो निरूपणाद् उक्तफलप्रदत्वस्य तत्रानायासेन संभवात् ।

द्वितीय पाद में मुख्यरूप से उपासक को प्राप्त होने वाले फलादि का वर्णन है । इससे यह भ्रम निकल जाता है कि तत्त्वज्ञानी को ये फल मिलते हैं । अन्यथा लोकप्रसिद्धिवश यह भ्रम बना रहता है । इसमें ग्यारह अधिकरण हैं ।

१. मरते समय के वर्णन में कहा गया है 'वाणी मन में लीन होती है' (छां. ६.८.६); वहाँ इतना ही अर्थ है कि मनोवृत्ति के रहते वाणी की वृत्ति उपशांत हो जाती है । मनःकार्य न होने से मन में वाणी का स्वरूपतः मिट्टी में घड़े की तरह लय नहीं होता ।

२. पूर्वप्रसंग में ही 'मन प्राण में लीन होता है' कहा है; वहाँ भी प्राण के कार्यकारी रहते मनोवृत्ति उपशांत हो जाती है यही अर्थ है ।

३. पूर्वप्रसंग में ही 'प्राण तेज में लीन होता है' कहा है । वहाँ अभिप्राय यह है कि प्राण जीव की गति के अधीन हो जाता है और प्राणयुक्त जीव देहबीजभूत तेज आदि सूक्ष्मभूतों को अपने साथ ले लेता है ।

४. अनुपासक व उपासक दोनों का शरीरत्याग समान होता है । बाद की गति में अन्तर है । क्योंकि उपासक ने अविद्यादि का बाध नहीं किया इसलिये उसे गति मिलती है ।

५. पूर्वोक्त मरण प्रसंग में ही कहा है 'तेज परा देवता में विलीन होता है' । वहाँ प्राण, इंद्रियसमूह व भूतांतरसहित तेज का बीजभाव से रहना ही विवक्षित है क्योंकि तत्त्वज्ञान के बिना परमात्मा में सर्वथा (स्थूल-सूक्ष्म दोनों प्रकार से) विलय संभव नहीं । अतः अज्ञानी की पुनरावृत्ति होती है । स्थूल देह छोड़ता हुआ पुर्यष्टक सूक्ष्म और छोटा होता है इसलिये आराम से निकल जाता है, किसी से टकराता भी नहीं । इस पुर्यष्टक के रहते ही शरीर गर्म रहता है, निकल जाने पर ठंडा हो जाता है ।

६. परमात्मा के जानकार का पुर्यष्टक प्रारब्धसमाप्ति पर कहीं जाता नहीं ।

७. उसके इन्द्रियादि परमात्मा में ही विलीन हो जाते हैं । व्यावहारिक दृष्टि से कह दिया जाता है कि वे अपने पृथ्व्यादि कारणों में लीन होते हैं ।

८. ब्रह्मवेत्ता की इन्द्रियादि कलायें स्थूल-सूक्ष्म दोनों प्रकार से लीन हो जाती हैं अर्थात् बीजरूप से भी नहीं रहती ।

९. सगुणोपासक के प्राण मूर्द्धा से ही निकलते हैं ।

१०. सगुणोपासक चाहे रात में मरे, वह रश्मि द्वारा ऊर्ध्वगमन ही करता है ।

११. योगियों को भले ही उत्तरायणादि काल में मरने से अंतर पड़े, श्रुत्यनुसार सगुणोपासना करने वाला किस समय मरता है इससे कोई अंतर नहीं आता ।

यह विषय भी चतुर्थ व्याख्या में संगृहीत समझ सकते हैं क्योंकि यहाँ बताये सभी फल होते हैं परमेश्वर की कृपा से और उस व्याख्या में सगुण-निर्गुण दोनों रूपों वाले परमेश्वर का वर्णन किया ही है जिससे परमेश्वर कृपाप्राप्य फलों का बोध भी संभव है ।

अथ चतुर्थाध्यायस्य तृतीयपादे षड्भिरधिकरणैरर्चिरादिकस्य ब्रह्मलोकमार्गस्यैकत्वम्, उत्तरमार्गेण कार्यब्रह्मगमनं, प्रतीकोपासकानां ब्रह्मलोकाऽप्रापणं तेषां देवतान्तरोपासकत्वात् तत्तल्लोकगमनमित्याद्युक्तम् । तच्च चतुर्थे व्याख्यानेऽन्तर्भूतम् । तत्र 'शिवो ब्रह्मादिरूपः स्याद्' (श्लो. ६) इति सर्वसामर्थ्यस्य 'अर्थं धर्मं च कामं च वाञ्छंश्च परमेश्वरम्' (श्लो. १०) इति सगुणोपासनस्य निर्गुणोपासनस्य च फलप्रदातृत्वस्य परमेश्वरस्यैव निरूपणात् ।

पूर्वपाद में उपासक का देहोत्सर्ग बताया । तीसरे पाद में उसके जाने का मार्ग बताना है । इसमें छह अधिकरण हैं ।

१. ब्रह्मलोक व उस तक पहुँचने का मार्ग एक ही है । विभिन्न वर्णनों की एकवाक्यता बैठा लेनी चाहिये ।

२. ब्रह्मलोक मार्ग में संवत्सर और आदित्य के मध्य वायु का स्थान है ।

३. उक्त मार्ग में विद्युत् के बाद वरुण और उसके बाद इन्द्र और प्रजापति का स्थान है ।

४. उक्त मार्ग में कहे अर्चिः आदि सब देवता हैं जो जीव को आगे ले जाते हैं ।

५. उपासकों को कार्यब्रह्म की ही प्राप्ति होती है परब्रह्म की नहीं क्योंकि गतिपूर्वक वही पाया जा सकता है । इसीलिये श्रुति ने केवल ब्रह्म नहीं ब्रह्मलोक की प्राप्ति कही है । उपाधि का ही सदसद्भाव होने का भेद होने से कार्यब्रह्म भी ब्रह्म ही कहा गया है । ब्रह्मलोक में ज्ञान हो जाने पर ब्रह्मलोक के विलय के समय हिरण्यगर्भ समेत सभी ज्ञानी मुक्त हो जाते हैं । जैमिनि आदि उपासना से परब्रह्मप्राप्ति मानते हैं परन्तु वह ग़लत है । ऐसे ही जो कर्मकाण्डी कर्म के सहारे ही अदृष्ट निवृत्ति से मोक्ष मानते हैं उनकी भी सारी प्रक्रिया मनगढ़न्त, अयुक्त और अव्यावहारिक है । अतः यहाँ बतायी व्यवस्था ही श्रद्धेय है ।

६. प्रतीकोपासकों को ब्रह्मलोक नहीं मिलता वरन् तत्र-तत्र बताये गये फल ही मिलते हैं ।

यह प्रसंग भी चौथी व्याख्या से समझ लेना पड़ेगा क्योंकि यहाँ भी फल प्राप्ति बतायी है व उसे देने वाले का उस व्याख्या में वर्णन है ही । यहाँ सुबोधिनी में 'वाञ्छंश्च परमेश्वरम्' पाठ दिया गया है किन्तु मूल में 'जगदीश्वरम्' पाठ है यह ध्यान रखना चाहिये ।

अथ चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थपादे मुक्तिरूपस्य वस्तुनः पुरातनत्वं, मुक्तस्य च ब्रह्मणोऽभिन्नत्वं, मुक्तस्वरूपभूतस्य ब्रह्मणो युगपत् सविशेषनिर्विशेषत्वम्, अर्चिरादिमार्गेण ब्रह्मलोकप्राप्तस्य उपासकस्य भोगवस्तूनां सृष्टौ मानससङ्कल्पस्यैव हेतुत्वं, देहान्तरसृष्टावपि ऐच्छिकं, जगत्सृष्टौ स्वातन्त्र्याभावेऽपि भोगमोक्षयोः स्वातन्त्र्यं, सदेहत्वमदेहत्वमापि तस्य स्वैच्छिकमेव चेत्यादि निरूपितम् । तच्च चतुर्थनवमव्याख्यानयोरन्तर्भूतम् । तत्र 'अहं शिवः शिवोऽहं च' (श्लो. ८) इत्यादिना मुक्तस्य ब्रह्मणोऽभिन्नत्वनिरूपणाद्; 'अथवा दास एवाहम्' (श्लो. ७) इत्यादिना उपासनायाश्च सम्यङ्निरूपणात्; 'नमोऽहं च शिवायोऽयम्' (श्लो. २१) इत्यादिना नवमव्याख्याने जीवस्यानादिब्रह्मरूपत्वनिरूपणात् ।

चतुर्थ अध्याय में पहले बन्धन की निवृत्ति का वर्णन किया, फिर उपासक की गति बताने के लिये देह से उत्क्रम का निरूपण किया और तदनन्तर सगुणविद्या से होने वाली गति, गन्तव्य और पहुँचाने वालों को बताया । अब अंतिम चरण में पराविद्या का फल ब्रह्मभाव एवं सगुणविद्या का फल ईश्वरतुल्य भोगादि को बताना है । इसमें सात अधिकरण हैं —

१. पराविद्या का फल होने पर केवल आत्मरूप से ही प्रकाशमानता रहती है, कोई विशेषता नहीं आ जाती, केवल सब विशेषतायें हट जाती हैं । अवस्थावान् और देहतद्धर्मवान् न समझने से सब कर्मों का सम्बंध छूट जाता है अतः नित्यस्वरूप आनन्द के अतिरिक्त कोई सुख-दुःखादि विकार नहीं रहते । बंधनशब्दित अविद्या-तदध्यास का बाध ही यहाँ फल है, किसी भावभूतवस्त्वन्तर की प्राप्ति नहीं । बाध भी स्वयं बाध्यमान उत्पन्न होने से कोई अभावभूत वस्तु भी यहाँ प्राप्त नहीं होती । दृश्यमात्रशून्य दृङ्मात्र ही मुक्त है ।

२. मुक्त का ब्रह्म से अत्यन्त अभेद है । ब्रह्म का ही संसरण होने से वही तो मुक्त होगा । संसरणवेला में विद्यमान भी अत्यन्त अभेद आवृत होने से अनुभवानुसारी भेद अभ्युपगत होता है किन्तु मोक्ष में आवृत न होने से अननुभूत अतएव भेद अनभ्युपगत होता है ।

३. मुक्त में अज्ञदृष्टि से सत्यकामादि सविशेषता एवं स्वदृष्टि से निर्विशेष चिन्मात्रता रहती है ।

४. ब्रह्मलोक में पहुँचा हुआ सगुणोपासक केवल संकल्पमात्र से यथेष्ट भोग पा लेता है, किसी प्रयत्नान्तर की या वस्त्वन्तर की उसे ज़रूरत नहीं पड़ती । इसी से वहाँ उसका कोई मालिक नहीं होता, वह स्वतंत्र होता है ।

५. ब्रह्मलोकस्थ स्वसंकल्पवश ही कभी स्थूल शरीर ग्रहण कर लेता है व कभी उसके बिना ही बना रहता है । उसे भोग के लिये स्थूल शरीर चाहिये ही — ऐसा नियम नहीं ।

६. ब्रह्मलोकस्थ उपासक अपने अनेक शरीर भी रच सकता है । वे सभी शरीर उसी तरह सजीव होते हैं जैसे एक शरीर । भेद ज्ञान, विषय भोग आदि का सर्वथा अभाव तो कैवल्य में होता है, सगुणविद्याप्राप्य सविशेष मोक्ष में नहीं ।

७. ब्रह्मलोकस्थ उपासकों को ईश्वर के समान भोग तो मिलता है पर जगत् उत्पन्न करने आदि में वे समर्थ नहीं होते । अन्य अणिमादि सब सामर्थ्य उनमें रहती है । तत्क्रतुन्याय से ईश्वरोपासक ईश्वर को प्राप्त कर भी उनके सृष्ट्यादिसामर्थ्य से वैसे ही वंचित रह जाते हैं जैसे उनकी नित्यमुक्तता से, उनके निर्विशेषरूप से । किंतु सगुणोपासकों को पुनः जन्म नहीं लेना पड़ता क्योंकि वहीं वे तत्त्वज्ञान पाकर कैवल्य प्राप्त कर लेते हैं ।

मन्त्रराज की चौथी और नौवी व्याख्या से यह पाद भी संगृहीत है । वहाँ 'मैं शिव हूँ, शिव मैं हूँ' (श्लो. ८) द्वारा निर्विशेष मोक्ष का स्वरूप स्पष्ट किया है । जीव को दास कहकर (श्लो. ९) उपासना बतायी जिससे अर्थात् उपासनाफल भी सूचित हो गया । अंत में अपनी नमता और शिवायता बताने से (श्लो. २१) मोक्ष की नित्य आत्मरूपता द्योतित होने से आवृत्ति की शंका का मूलोच्छेद कर दिया ।

इस प्रकार समस्त एक सौ बानबे (भाष्यरीत्या एक सौ इक्यानबे) अधिकरणों का सारसंक्षेप आचार्य पद्मपाद ने इस भाष्य में ग्रथित कर दिया है । पञ्चपादिका में अतिविस्तार से समझाने वाले आचार्य के लिये यह नितरां संगत है कि उन्होंने यहाँ गागर में सागर भरा है । पण्डित हरिनामदत्त की मनीषा भी हार्दिक श्रद्धा के योग्य है जिसने आचार्यवचनों के गाम्भीर्य को पहचान कर व्यक्त कर दिया । प्रस्थानत्रयी के तात्पर्य का संग्रह इस पंचाक्षरी विद्या को श्रवणेच्छुकों के लिये उपकारी बनाता है । वस्तुतस्तु इन अर्थों का मनन करते हुए मन्त्रराज का अनवरत जप ही शिवकृपाप्राप्ति द्वारा मोक्ष का राजपथ है ।

ॐ नमः शिवाय ।।

इयं सारस्वतापत्यहरिनामाख्यशर्मणा ।
पञ्चाक्षरीमन्त्रभाष्यव्याख्या प्रोक्ता सुबोधिनी ।।

सारस्वत कुल में उत्पन्न हरिनाम (दत्त) नाम वाले ब्राह्मण ने पञ्चाक्षरी मन्त्रभाष्य की सुबोधिनी नामक यह व्याख्या बनायी है ।

शरेषुनवचन्द्राब्दे सप्तम्यां सोमवासरे ।
मार्गशीर्षे शुक्लपक्षे व्याख्यानं पूर्तिमभ्यगात् ।।

मार्गशीर्ष शुक्ल सप्तमी, सोमवार, संवत् १९५५ को यह व्याख्या पूरी हुई ।

।। इति श्रीसारस्वतवंशावतंस-मिश्रहरिधनात्मज-वेदान्तनिष्ठ-
हरिनामदत्त-विरचिता पञ्चाक्षरीशिवमहामन्त्रभाष्य-
सुबोधिनी-व्याख्या समाप्ता ।।

नमः शिवायेति महामनौ मुनि-
रविस्तरं भाष्यकृतां मतं जगौ ।
सुबोधिनीबोधितबुद्धिमान् गुरो-
रनुज्ञयैवाविरकार्षमृद्धये ।।
इति तव परिचर्यां चर्चयैवाचचार
भव भवतु मनो निर्वासनो वासनावा ।
अरतिरतिरतौ ते मुक्सुधामोचिनी दृक्
प्रपततु परदीप्तेऽदीप्तिसन्दीपनेन ।।